वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
स्वामी विवेकानन्द का १५० वाँ जन्मवर्ष
वर्ष ५१ अंक ५ मई २०१३
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर ( छ.ग. )

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

**हिन्दी मासिक**

**मई २०१३**

प्रबन्ध सम्पादक

**स्वामी सत्यरूपानन्द**

सम्पादक

**स्वामी विदेहात्मानन्द**

**वर्ष ५१**
**अंक ५**

**वार्षिक ६०/–** **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

**विदेशों में** – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

**संस्थाओं के लिये –**
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–


**रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,**
**रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)**

**विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५**

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)


## अनुक्रमणिका




मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)





**प्रिंट आर्डर - २३, ०००**

## सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

## लेखकों से निवेदन

**रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –**

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

**हिन्दी मासिक**

**वर्ष ५१ मई २०१३ अंक ५**


## पुरखों की थाती

**गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा ।**
**पापं तापं च दैन्यं च हन्ति सन्तो महाशयाः ।।२६९।।**

– गंगा पापों का नाश करती है, चन्द्रमा ताप का नाश करता है और कल्पतरु दीनता का नाश करता है; पर विशाल हृदय वाले महात्मा पाप-ताप व दीनता – तीनों का नाश करते हैं।

**गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।**
**हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः ।।२७०।।**

– चलते हुए व्यक्ति का कभी असावधानीवश पाँव फिसलकर पतन हो जाय, तो दुष्ट लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं, परन्तु सज्जन लोग उसे दिलासा दिया करते हैं।

**गच्छन् पिपीलिको शतयोजन गमिष्यति ।**
**अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति ।।२७१।।**

– चलती हुई चींटी सैकड़ों मील का रास्ता तय कर लेती है, परन्तु न चलता हुआ गरुड़ एक पग भी अग्रसर नहीं होता।

**गते शोको न कर्तव्यो भविष्यं नैव चिन्तयेत् ।**
**वर्तमानेन कालेन वर्तन्ते हि विचक्षणाः ।।२७२।।**

– जीवन की बीती हुई घटनाओं के लिये शोक नहीं करना चाहिये और भविष्य के लिये चिन्ता भी नहीं करनी चाहिये; बुद्धिमान लोग अपने वर्तमान के कर्तव्यों के सम्पादन में ही पूरा मनोनियोग करते हैं।

**गर्जति शरदि न वर्षति वर्षासु विस्वनो मेघः ।**
**नीचो वदति न कुरुते, न वदति सुजनः करोत्येव ।।**

– जैसे जाड़ों के बादल केवल गर्जन-तर्जन ही करते हैं, पर वर्षा ऋतु के बादल निःशब्द बरसते रहते हैं, वैसे ही निकृष्ट लोग बड़ी-बड़ी बातें हाँकते हैं, उन्हें पूरा नहीं करते; परन्तु सज्जन लोग बिना कुछ कहे ही अपना कर्तव्य किये जाते हैं।

**ग्रन्थान्-अभ्यस्य मेधावी ज्ञान-विज्ञान-तत्परः ।**
**पलालम्-इव धान्यार्थी त्यजेत् सर्वम्-अशेषतः ।।**

– ज्ञान-विज्ञान के अर्जन में तत्पर मेधावी व्यक्ति को चाहिये कि वह सारे ग्रन्थों का अध्ययन करके उनके सार को ग्रहण करके उनका वैसे ही त्याग कर दे, जैसे धान निकालने के बाद पुआल को छोड़ दिया जाता है। (महाभारत)

**ग्रीष्मकाले दिनं दीर्घं शीतकाले तथा निशा ।**
**परोपतापिनः सर्वे प्रायशो दीर्घजीविनः ।।२७५।।**

– गर्मी के मौसम में दिन बड़ा होता है और जाड़ों में दिन छोटा होता है; वैसे ही प्रायः देखने में आता है कि दूसरों को कष्ट देनेवाले लोग प्रायः लम्बी आयु प्राप्त दीख पड़ते हैं।

**गीत-विद्या-प्रभावेन देवर्षिर्नारदो महान् ।**
**मान्यो वैष्णवलोके वै श्रीशम्भोश्चातिवल्लभः ।।२७६**

– देवर्षि नारद संगीतविद्या के प्रभाव से ही महान् हुए; इसी के कारण उन्हें विष्णुलोक में सम्मान मिला और वे शिवजी के भी अत्यन्त प्रिय हुए।

**गतानुगतिकः लोको न लोकः पारमार्थिकः ।।२७७।।**

– जो लोग (भेड़ों जैसे) एक के पीछे एक चलनेवाले होते हैं; वे परम सत्य को नहीं देख पाते। (हितोपदेश)

**गुणयुक्तोऽपि अधो याति रिक्तः कूपे यथा घटः ।**
**निर्गुणोऽपि भृतः पश्य, जनैः शिरसि धार्यते ।।२७८।।**

– गुणवान व्यक्ति भी यदि चरित्र की दृष्टि से खाली हो, तो वह गुण अर्थात् रस्सी से युक्त खाली घड़े के कुँए में उतरने के समान पतित होता है; पर गुण अर्थात् रस्सी से रहित होते हुए भी यदि भरे हुए घड़े के समान चरित्रवान हो, तो देखो, लोग कैसे उसे सिर पर धारण करते हैं। ❖ **(क्रमशः)** ❖

# हमारी है यही विनती

– १ –

(गजल–कहरवा)

हमारी है यही विनती, प्रभो, सब पर कृपा करना।
सभी में दोष-त्रुटियाँ हैं, सभी को तुम क्षमा करना ।।

किसी का मन नहीं वश में, सभी लाचार हैं जग में,
लगा तुम ही स्वचरणों में, सभी के ताप-दुख हरना ।।

कोई भूखा न रह जाए, कहीं कोई न दुख पाए,
अभावों को मिटाकर तुम, सभी के प्राण-मन भरना ।।

सभी प्राणी अभय होवें, सभी सुख-चैन से सोवें,
विदेही आत्म-निर्झर से, बहाओ शान्ति का झरना ।।

– २ –

(मालकौंस–कहरवा)

दिल में है अनमोल खजाना ।
उसका ही सन्धान करो नर,
विषमय विषयों में न लुभाना ।।

मायारूपी मछुआरिन ने,
सूक्ष्म जाल फैलाया जग में,
काम-दाम का चारा खाकर,
पड़े न जीवन भर पछताना ।।

खोजो अपने ही अन्तर में,
सारा माल पड़ा है घर में,
परम रत्न पाया उसने ही,
जिसने निज स्वरूप पहचाना ।।

भटके बहुत घोर जंगल में,
चित न लगाया निज मंगल में,
दुनिया के प्रपंच सब तजकर,
अब 'विदेह' अपने घर जाना ।।

# पश्चिमी देशों में धर्म-प्रचार

***स्वामी विवेकानन्द***

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

**(गतांक से आगे)**

## इंग्लैंड में दुबारा –

***रीडिंग, इंग्लैंड, २० अप्रैल १८९६ :*** यात्रा सुखद रही और इस बार कोई बीमारी नहीं हुई। इससे बचने के लिए मैंने अपना उपचार किया। मैंने आयरलैंड तथा इंग्लैंड के कुछ पुराने नगरों की थोड़ी यात्रा की और अब पुन: रीडिंग में ब्रह्म एवं माया तथा जीव, व्यक्ति और सार्वभौम आत्मा आदि के बीच हूँ। दूसरे संन्यासी (स्वामी सारदानन्द) यहाँ हैं, मैं समझता हूँ कि वे एक उत्कृष्ट व्यक्ति और अच्छे विद्वान् भी हैं। इस समय हम पुस्तकों के सम्पादन में लगे हैं। मार्ग में कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं हुई। यात्रा मेरे जीवन की ही भाँति कुण्ठित, नीरस तथा शुष्क रही। जब मैं अमेरिका से बाहर होता हूँ, तो मैं उससे अधिक प्रेम करता है। क्योंकि जो समय मैंने वहाँ व्यतीत किया है, वह मेरे अब तक के जीवन के सर्वोत्तम समयों में रहा है।[१३९]

***रीडिंग, अप्रैल (?) १८९६ :*** लंदन नगर जनसमुद्र है – दस-पन्द्रह कलकत्तों को एक साथ रखने से शायद उतना बड़ा होगा! अत: वहाँ आने पर कोई उसे ले जाने न आये, तो उसकी भूलभुलैया में भटक जाने की सम्भावना है।[१४०]

***रीडिंग, मई १८९६ :*** पुन: लन्दन आ पहुँचा हूँ। इस समय इंग्लैंड की जलवायु बड़ी सुन्दर तथा शीतप्रधान है। घर के अन्दर 'अग्निकुण्ड' में आग जलाये रखनी पड़ती है। ... इस बार हमें रहने को एक पूरा मकान मिला है। यद्यपि मकान छोटा है, तो भी उसमें हर तरह की सुविधाएँ हैं। लन्दन में मकान का किराया अमेरिका जैसा अधिक नहीं है।... यहाँ मेरे कुछ पुराने मित्र भी हैं। कुमारी मैक्लाउड हाल ही में यूरोप का भ्रमण कर लन्दन लौट आयी हैं। उनका स्वभाव स्वर्ण जैसा विशुद्ध है, उनके स्नेहमय हृदय में कोई परिवर्तन नहीं आया है। हम इस मकान में एक लघु सीमित परिवार के रूप में हैं; हमारे साथ भारत से आये हुए एक संन्यासी (स्वामी सारदानन्द) भी हैं।... अभी मेरी 'कक्षाओं' के दो सत्र चल रहे हैं। चार-पाँच महीने तक यही क्रम जारी रहेगा – फिर भारत के लिये प्रस्थान करना है; पर मेरा हृदय यांकियों (अमेरिकियों) में ही पड़ा है – मैं यांकियों का देश पसन्द करता हूँ। मैं सब कुछ नवीन देखना चाहता हूँ। पुरातन ध्वंसावशेष के चारों ओर आलसी की तरह चक्कर लगाते हुए अतीत इतिहासों को लेकर सारे जीवन 'हाय हाय' करने तथा प्राचीनकाल के लोगों की बातें चिन्तन कर निराशा की लम्बी साँसें छोड़ने के लिए मैं बिल्कुल भी राजी नहीं हूँ। मेरे खून में जो जोश है, उसके कारण ऐसा करना मेरे लिए सम्भव नहीं। समस्त भावनाओं को प्रकाश में लाने के लिए उपयुक्त स्थान, पात्र तथा सुयोग-सुविधाएँ एकमात्र अमेरिका में ही उपलब्ध हैं; और मैं भी आमूल-चूल परिवर्तन का घोर पक्षधर बन चुका हूँ। मैं शीघ्र ही भारत लौटना चाहता हूँ, मैं देखना चाहता हूँ कि परिवर्तन-विरोधी 'जेली' मछली की तरह शिथिल उस विराट् पुंज के लिए मुझसे कुछ हो सकता है या नहीं? मैं उन प्राचीन संस्कारों को दूर हटाकर सब नये रूप में प्रारम्भ करना चाहता हूँ – एक सम्पूर्ण नवीन, सरल किन्तु साथ-ही सबल-सद्योजात शिशु की तरह नवीन तथा सतेज। जो कुछ भी प्राचीन है, उसे दूर हटा दो – नये सिरे से प्रारम्भ करो।

जो असीम, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ तथा सनातन है, वह व्यक्ति-विशेष नहीं – तत्त्वमात्र है। तुम, हम, तथा अन्य सभी उसी तत्त्व के बाह्य प्रतिरूप मात्र हैं। इस अनन्त तत्त्व का विकास जिन व्यक्तियों में जितना अधिक है, वे उतने ही अधिक महान् हैं; अन्त में सभी को उसकी पूर्ण प्रतिमूर्ति बनना पड़ेगा; इस प्रकार यद्यपि इस समय सभी लोग स्वरूपत: एक ही हैं, फिर भी उस समय वास्तव में सभी एक हो जायेंगे। इसके सिवाय धर्म और कुछ पृथक् वस्तु नहीं है। इस एकत्व का अनुभव अथवा प्रेम ही उसका साधन है। प्राचीन काल के निर्जीव अनुष्ठान तथा ईश्वर-सम्बन्धी विविध धारणाएँ पुरातन अन्ध-विश्वास मात्र हैं। वर्तमान समय में उनको बनाये रखने की

सार्थकता ही क्या है? जीवन तथा सत्य की नदी जब अपने निकट ही प्रवाहित हो रही है, तो तृषातुर लोगों को नालियों का गन्दा पानी पिलाने की जरूरत ही क्या है? यह मानवसुलभ स्वार्थपरता के सिवाय और कुछ नहीं है। प्राचीन संस्कारों का निरन्तर समर्थन करता हुआ मैं परेशान हो चुका हूँ। मुझे अब यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि मैंने आज तक उन दुर्गन्धपूर्ण तथा मरणोन्मुख भावनाओं के समर्थन के लिए अपनी शक्ति के एक बृहत् अंश को व्यर्थ में नष्ट कर डाला है। जीवन क्षणस्थायी है और समय भी तेजी से अग्रसर हो रहा है। जिस स्थान तथा पात्र में भावनाएँ सरलता के साथ कार्य में परिणत हो सकती हों, प्रत्येक व्यक्ति को उसी स्थान तथा पात्र का निर्वाचन कर लेना चाहिए। काश! यदि साहसी, उदार, महान् तथा निष्कपट हृदय वाले बारह लोग भी प्राप्त होते!

मैं यहाँ पर अच्छी तरह हूँ और अपने जीवन का भली-भाँति आनन्द ले रहा हूँ।[१४१]

***लन्दन, ३० मई १८९६ :*** प्राध्यापक मैक्समूलर के साथ बहुत अच्छी तरह भेंट हुई। वे ऋषि जैसे हैं – वेदान्त की भावनाओं से पूर्ण हैं। इस बारे में तुम्हारी क्या राय है? वे काफी दिनों से मेरे गुरुदेव के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते हैं। उन्होंने 'नाइन्टीन्थ सेंचुरी' में श्रीरामकृष्ण-विषयक एक लेख लिखा है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। भारत-सम्बन्धी विविध विषयों में उनके साथ लम्बी चर्चा हुई। अहा, भारत के प्रति उनके प्रेम का अर्धांश भी यदि मुझमें होता! ...

अब यहाँ पर मैंने 'कक्षाएँ' शुरू कर दी हैं। आगामी सप्ताह से प्रति रविवार व्याख्यान देना प्रारम्भ करूँगा। 'कक्षा' बड़े पैमाने पर चल रही है। सारे मौसम के लिए जो मकान किराये पर लिया गया है और उसी में 'कक्षा' की व्यवस्था की गयी है। कल रात मैंने खुद भोजन बनाया था। केशर, गुलाबजल, जावित्री, जायफल, दालचीनी, लौंग, इलायची, मक्खन, नींबू का रस, प्याज, किसमिस, बादाम, काली मिर्च तथा चावल – सब मिलाकर ऐसी स्वादिष्ट खिचड़ी पकायी थी कि मैं स्वयं ही उसे गले से नीचे नहीं उतार सका। घर पर हींग नहीं थी, नहीं तो उसे भी थोड़ा मिला लेने पर निगलने में सुविधा होती।[१४२]

***लन्दन, ६ जून १८९६ :*** प्राध्यापक मैक्समूलर कितने असाधारण व्यक्ति हैं! मैं कुछ दिन पहले उनसे मिलने गया था, बल्कि यह कहना उचित होगा कि मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करने गया था; क्योंकि जो कोई भी श्रीरामकृष्ण से प्रेम करता हो, वह स्त्री हो या पुरुष, वह चाहे किसी भी सम्प्रदाय, मत या जाति का हो, उसका दर्शन करने जाना मैं तीर्थयात्रा के समान समझता हूँ। **मदभक्तानां च ये भक्ता: ते मे भक्ततमा मता:** – ''जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, वे मेरे सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं।'' क्या यह सत्य नहीं है?... प्रोफ़ेसर सहृदयता की प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने स्टर्डी साहब और मुझको अपने साथ भोजन करने का आमंत्रण दिया और फिर उन्होंने हमें बोडलियन ग्रन्थालय ऑक्सफोर्ड के कई कॉलेज दिखलाये। वे हम लोगों को रेलवे स्टेशन तक पहुँचाने के लिए भी आये थे। जब हमने उनसे पूछा कि वे हमारे सुख-सुविधा के लिए इतना सब क्यों कर रहे हैं? तो उन्होंने उत्तर दिया, ''श्रीरामकृष्ण परमहंस के एक शिष्य से तो हमारी प्रतिदिन भेंट नहीं होती!''

यह भेंट मेरे लिए एक अद्भुत अनुभव थी। एक सुन्दर उद्यान के बीच उनका वह मनोरम छोटा-सा घर, सत्तर वर्ष की आयु होते हुए भी वह स्थिर प्रसन्नमुख, बालकों का सा कोमल ललाट, रजतशुभ्र केश, ऋषि-हृदय के अन्तस्तल में कहीं स्थित गम्भीर आध्यात्मिक निधि की अस्तित्वसूचक उनके मुख की प्रत्येक रेखा, उनकी शीलवती पत्नी, विरोध एवं निंदा पर विजय प्राप्त करके अन्तत: भारत के प्राचीन ऋषियों के विचारों के प्रति आदर भाव उत्पन्न करा सकनेवाले उनके दीर्घकालीन श्रमसाध्य उत्तेजक जीवन कार्य में हाथ बँटानेवाली उनकी सहधर्मिणी – विटप, पुष्प, नीरवता और स्वच्छ आकाश – ये समस्त सम्मिलित रूप से मुझे कल्पना में भारत के उस प्राचीन गौरवशाली युग में, ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों के, उच्चाशय वानप्रस्थियों तथा अरुन्धती और वशिष्ठ आदि के युग में खींच ले गये।

मैंने उन्हें एक भाषाविज्ञानी या विद्वान् के रूप में नहीं, अपितु उन्हें ब्रह्म के साथ नित्य एकरूपता अनुभव करनेवाली एक आत्मा और विश्वात्मा के साथ एकात्म होने के निमित्त प्रतिक्षण विस्तीर्ण होते हुए हृदय के रूप में ही देखा। जहाँ अन्य लोग स्वयं को शुष्क ब्यौरों की मरुभूमि में खो देते हैं, वहीं उन्होंने जीवन का स्रोत ढूँढ़ निकाला है। नि:सन्देह उनके हृदय के स्पन्दनों ने उपनिषदों की लय पकड़ ली है – **तमेवैकं जानथ आत्मानं अन्या वाचो विमुञ्चथ** – ''एकमात्र आत्मा को ही जान लो, अन्य सब बातें त्याग दो।' ...

और फिर उनका भारत के प्रति अनुराग भी कितना है! मेरा अनुराग यदि उसका शतांश भी होता, तो मैं स्वयं को धन्य समझता! असाधारण और प्रखर क्रियाशील प्रतिभा से युक्त ये मनस्वी पचास या उससे भी अधिक वर्षों से भारतीय विचार-राज्य में निवास तथा विचरण कर रहे हैं; और उन्होंने इतनी श्रद्धा एवं हार्दिक प्रेम के साथ संस्कृत साहित्य के अनन्त अरण्य में प्रकाश और छाया के तीक्ष्ण विनिमय का अवलोकन किया है कि अन्त में वह उनके हृदय में ही पैठ गया है और उनका सर्वांग ही उसमें रँग गया है।[१४३]

मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है कि सायणाचार्य ने अपने भाष्य का स्वयं ही उद्धार करने के निमित्त मैक्समूलर के रूप में पुन: जन्म लिया है। ऐसा विश्वास मेरा बहुत दिनों से था, पर उन्हें देखकर वह और भी दृढ़ हो गया है। ऐसा परिश्रमी और ऐसे वेद-वेदान्त-सिद्ध विद्वान् हमारे देश में भी नहीं

मिलते। इसके अतिरिक्त उनकी श्रीरामकृष्ण पर भी कैसी प्रगाढ़ भक्ति है ! ... उनके अवतारत्व पर भी उन्हें विश्वास है। मैं उन्हीं के आवास में अतिथि रहा और उन्होंने मेरी कैसी देखभाल की तथा सत्कार किया ! दोनों वृद्ध पति-पत्नी को देखकर ऐसा अनुमान होता था – मानो वशिष्ठदेव और देवी अरुन्धती ही संसार में निवास कर रहे हैं। मुझे विदा करते समय वृद्ध की आँखों से आँसू टपकने लगे थे। ...

जो वेद के भाष्यकार हैं, जो ज्ञान की तेजस्वी मूर्ति हैं, उनके लिए वर्णाश्रम या जातिभेद कैसा? उनके सामने यह सब अर्थहीन है। जीव के उपकारार्थ वे जहाँ चाहें, जन्म ले सकते हैं। विशेषकर यदि वे, जिस देश में विद्या और धन दोनों हैं, वहाँ जन्म न लेते, तो इतने विशाल ग्रन्थ को छापने का खर्च कहाँ से आता?... ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इस ऋग्वेद को छपवाने के लिए नौ लाख रुपये नकद दिये थे, पर उससे भी काम पूरा नहीं हुआ। भारत के सैकड़ों वैदिक पण्डितों को मासिक वेतन देकर इस कार्य में नियुक्त किया गया था। विद्या और ज्ञान के निमित्त इतना व्यय और ऐसी प्रबल ज्ञान-तृष्णा वर्तमान समय में क्या किसी ने इस देश में देखी है? मैक्समूलर ने स्वयं ही भूमिका में लिखा है कि उन्हें २५ वर्ष तो केवल इसे लिखने में ही लगे और फिर छपवाने में २० वर्ष और लगे। ४५ वर्ष तक एक ही पुस्तक पर लगे रहना – क्या साधारण मनुष्य का कार्य है? इसी से समझ लो कि मैं क्यों उनको स्वयं सायण कहता हूँ।[१४४]

अंग्रेज़ी चर्च के उच्चतम अधिकारियों ने मुझसे कहा है कि आप वेदान्त को बाइबिल में स्थापित किये दे रहे हैं।[१४५]

इंग्लैंड में एक भी ऐसा धर्माचार्य या व्यक्ति नहीं था, जिसने मेरे विरुद्ध कुछ कहा हो; एक भी ऐसा नहीं था, जिसने किसी तरह से मेरी बदनामी की चेष्टा की हो। मुझे आश्चर्य है कि मेरे मित्रों में से बहुत-से इंग्लैंड के चर्च के हैं।[१४६]

मैं यूरोप में जर्मनी और फ्रांस सहित अनेक स्थानों में गया हूँ, पर मेरे कार्य के मुख्य क्षेत्र इंग्लैड और अमेरिका थे। आरम्भ में मैंने वहाँ स्वयं को एक विकट परिस्थिति में पाया। कारण यह था कि जो लोग भारत से वहाँ गये थे, उनका रुख इस देश के निवासियों के प्रति विरोधपूर्ण था। मेरा विश्वास है कि भारतीय राष्ट्र समस्त राष्ट्रों में सर्वाधिक सदाचारी और धार्मिक राष्ट्र है। किसी दूसरे राष्ट्र से हिन्दुओं की तुलना करना ईश-निन्दा करने के समान पातक होगा। पहले-पहल बहुत-से लोगों ने मेरा विरोध किया, बड़ी-बड़ी मिथ्या बातें गढ़ीं, कहा गया कि मैं एक ठग हूँ, मेरे यहाँ पत्नियों का एक हरम और बच्चों की आधी सेना है। पर मुझे इन मिशनरियों का जो अनुभव हुआ, उससे मेरी आँखें खुल गयीं कि ये लोग धर्म के नाम पर क्या नहीं कर सकते ! इंग्लैंड में मिशनरी कहीं नहीं थे। वहाँ मुझसे लड़ने के लिए कोई नहीं आया। मिस्टर लुंड मुझे पीठ पीछे गालियाँ देने के लिए अमेरिका गये, पर लोगों ने उनकी बात नहीं सुनी। मैं वहाँ बहुत जनप्रिय था। जब मैं इंग्लैंड लौटा, तो मैंने सोचा था कि वह मिशनरी यहाँ मेरे ऊपर आक्रमण करेगा, पर सत्य ने उसका मुँह बन्द कर दिया। इंग्लैंड में सामाजिक स्थिति भारत के जाति-भेद की तुलना में अधिक कठोर है। अंग्रेजी चर्च के लोग सब कुलीनों की सन्तानें हैं, जबकि बहुत-से मिशनरी ऐसे नहीं हैं। उन्होंने मेरे प्रति बड़ी सहानुभूति दिखायी। मैं समझता हूँ कि अंग्रेजी चर्च के लगभग तीस पादरी धार्मिक सिद्धान्तों की सभी बातों में मेरे साथ पूर्ण रूप से सहमत हैं। मुझे यह जानकर सुखद आश्चर्य हुआ कि अंग्रेज धर्माचार्यों ने मुझसे मतभेद होने पर भी, न तो पीठ पीछे मुझे गालियाँ दीं और न छलपूर्वक मुझे हानि ही पहुँचायी। यहाँ जाति और आनुवंशिक संस्कृति का लाभ स्पष्ट दिखायी देता है।

इंग्लैंड की अपेक्षा अमेरिका में मेरे प्रति बहुत अधिक लोगों की सहानुभूति थी। वहाँ नीची जातिवाले मिशनरियों की गालियों की बौछारों के कारण मेरे उद्देश्य को बड़ी सफलता मिली। मेरे पास रुपये बिल्कुल नहीं थे। भारत के लोगों ने मुझे राहखर्च मात्र दिया था और वह थोड़े ही समय में खर्च हो गया। मुझे यहाँ की भाँति वहाँ भी व्यक्तियों के दान पर ही निर्भर रहना पड़ा। अमेरिकी लोग बहुत अतिथि-सत्कारी हैं। अमेरिका में एक तिहाई लोग ईसाई हैं, पर बाकी लोगों का कोई धर्म नहीं है अर्थात् उनका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय से नहीं है, पर उनमें बहुत-से लोग बड़े आध्यात्मिक दीख पड़ते हैं। मैं समझता हूँ कि इंग्लैंड में काम पक्का है। यदि मैं कल मर जाऊँ और किसी संन्यासी को न भेज सकूँ, तो भी इंग्लैंड का काम चलता रहेगा। मनुष्य के रूप में अंग्रेज बहुत अच्छा होता है। उसे बचपन से ही अपनी भावना को दबाकर रखना सिखाया जाता है। वह कुछ मोटी बुद्धिवाला होता है, फ्रांसीसी या अमेरिकी जैसा तेज नहीं होता, पर काफी व्यावहारिक होता है। अमेरिकी जाति की आयु अभी इतनी कम है कि त्याग की बात उनकी समझ में नहीं आ सकती।

इंग्लैंड ने युगों से सम्पत्ति और विलास का आनन्द लिया है। वहाँ बहुत-से लोग त्याग के लिए तैयार हैं। जब मैंने इंग्लैंड में पहला भाषण दिया, तो मेरी कक्षा छोटी-सी – २० या ३० लोगों की थी। वह मेरे जाने के बाद भी चलती रही और जब मैं अमेरिका से वापस लौटा, तो मुझे एक हजार श्रोता प्राप्त हुए। अमेरिका में मुझे और भी अधिक श्रोता मिलते थे; वहाँ मैंने तीन वर्ष लगाये थे, जब कि इंग्लैंड को केवल एक वर्ष दिया था। वहाँ मेरे दो संन्यासी हैं – एक इंग्लैंड में और दूसरा अमेरिका में, और मेरी इच्छा है कि मैं दूसरे देशों में भी संन्यासियों को भेजूँ।[१४७]

***लन्दन, ७ जून १८९६ :*** मेरा आदर्श अवश्य ही थोड़े-से शब्दों में कहा जा सकता है; और वह है – मनुष्य-जाति को उसके दिव्य स्वरूप का उपदेश देना तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे प्रकट करने का उपाय बताना।

यह संसार अन्धविश्वास की बेड़ियों से जकड़ा हुआ है। जो अत्याचार से दबे हुए हैं, चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, मैं उन पर दया करता हूँ; पर मेरी दया अत्याचारियों पर अधिक है।

एक बात जो मैं सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट देखता हूँ और वह यह कि अज्ञान ही दु:ख का कारण है, अन्य कुछ भी नहीं। जगत् को प्रकाश कौन देगा? भूतकाल में बलिदान ही नियम था और दु:ख है कि युगों तक ऐसा ही रहेगा। संसार के वीरों और सर्वश्रेष्ठ लोगों को 'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय' अपना बलिदान करना होगा। असीम दया और प्रेम से परिपूर्ण सैकड़ों बुद्धों की आवश्यकता है।

संसार के धर्म निष्प्राण और हास्यास्पद हो गये हैं। जगत् को आज जरूरत है चरित्र की। संसार को ऐसे लोग चाहिए जिनका जीवन स्वार्थहीन ज्वलन्त प्रेम का निदर्शन हो। वह प्रेम एक-एक शब्द को वज्र के समान प्रभावी बना देगा। ...

'वीर' शब्द और उससे अधिक 'वीर' कर्मों की हमें आवश्यकता है। महामना, उठो! उठो! संसार दु:ख से जल रहा है। क्या तुम सोये रह सकते हो? हम तब तक बारम्बार पुकारें, जब तक कि सोते हुए देवता जाग न जायँ, जब तक अन्तर्यामी देव उस पुकार का उत्तर न दें। जीवन में और क्या है? इससे महान् कर्म क्या है? चलते-चलते मुझे सारे विवरण ज्ञात हो जाते हैं। मैं उपाय कभी नहीं सोचता। कार्य-संकल्प का अभ्युदय स्वत: होता है और वह निज बल से ही पुष्ट होता है। मैं केवल कहता हूँ, जागो, जागो![१४८]

***लन्दन, ७ जुलाई १८९६ :*** यहाँ कार्य में आश्चर्यजनक प्रगति हुई। भारत के एक संन्यासी यहाँ मेरे साथ थे, जिन्हें मैंने अमेरिका भेज दिया है। भारत से एक और संन्यासी बुला भेजा है। कार्य का समय पूरा हो गया है, इसलिए कक्षाओं के लगने तथा रविवासरीय व्याख्यानों का कार्य भी आगामी १६ तारीख से बन्द हो जायगा। १९ तारीख को मैं करीब एक महीने के लिए शान्तिपूर्ण आवास तथा विश्राम हेतु स्विट्जरलैंड के पहाड़ों पर चला जाऊँगा और आगामी जाड़ों में लन्दन लौटकर फिर कार्य शुरू करूँगा। यहाँ का कार्य बड़ा सन्तोषजनक रहा है। यहाँ लोगों में दिलचस्पी पैदा करके मैं भारत के लिए उसकी अपेक्षा सचमुच कहीं अधिक कार्य कर रहा हूँ, जो भारत में रहकर करता।... मैं तीन अंग्रेज मित्रों के साथ स्विट्जरलैंड के पहाड़ों पर जा रहा हूँ। बाद में, जाड़ों के करीब अन्त में कुछ अंग्रेज मित्रों के साथ भारत जाने की आशा करता हूँ। ये लोग वहाँ मेरे मठ में रहेंगे, जिसके निर्माण की अभी तो केवल कल्पना भर है। हिमालय पर्वत में किसी जगह उसके निर्माण का उद्योग किया जा रहा है।[१४९]

***लन्दन, ६ जुलाई १८९६ :*** ब्रिटिश साम्राज्य के कितने ही दोष क्यों न हों, पर भाव-प्रचार का ऐसा उत्कृष्ट यन्त्र अब तक कहीं नहीं हुआ है। मैं इस यंत्र के केन्द्रस्थल में अपने विचार रख देना चाहता हूँ, बस वे स्वयं ही सारी दुनिया में फैल जायेंगे। यह सच है कि सभी बड़े काम बहुत धीरे-धीरे होते हैं और उनकी राह में असंख्य विघ्न उपस्थित होते हैं – विशेषकर इसलिए कि हम हिन्दू पराधीन जाति हैं। पर इसी कारण से हमें सफलता अवश्य मिलेगी, क्योंकि आध्यात्मिक आदर्श सदा पददलित जातियों में से ही पैदा हुए हैं। यहूदियों ने अपने आध्यात्मिक आदर्शों से रोम साम्राज्य पर विजय पाई। तुम्हें यह जानकर प्रसन्नता होगी कि मैं भी दिनो-दिन धैर्य – और विशेषकर सहानुभूति के सबक सीख रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि महामहिम एंग्लो-इंडियनों तक के भीतर मैं परमात्मा को देख रहा हूँ। मेरा ख्याल है कि मैं धीरे-धीरे उस अवस्था की ओर बढ़ रहा हूँ, जिसमें मैं स्वयं 'शैतान' को भी – यदि उसका अस्तित्व हो, तो प्यार कर सकूँगा।

बीस वर्ष की आयु में मैं इतना असहिष्णु और कट्टर था कि मेरी किसी से कोई सहानुभूति नहीं थी। कलकत्ते में रास्तों के जिस ओर थिएटर हैं, उधर से चलता तक न था। अब तैंतीस वर्ष की उम्र में मैं वेश्याओं के साथ एक ही मकान में ठहर सकता हूँ – उन्हें तिरस्कार का एक शब्द कहने का विचार तक मेरे मन में नहीं आयगा। क्या यह अधोगति है? या मेरा हृदय बढ़ता हुआ मुझे उस अनन्त प्रेम की ओर ले जा रहा है, जो साक्षात् भगवान हैं? लोग कहते हैं कि जो व्यक्ति अपने चारों ओर हो रही बुराइयों को नहीं देख पाता, वह अच्छा काम नहीं कर सकता – वह एक तरह से भाग्यवादी बना बैठा रहता है। मैं तो ऐसा नहीं देखता। बल्कि मेरी कार्यशक्ति प्रचण्ड वेग से बढ़ रही है और साथ ही असीम सफलता भी मिल रही है। कभी-कभी मुझे एक तरह का भावावेश होता है, तब मुझे ऐसा महसूस होता है कि मैं दुनिया के सारे प्राणियों और वस्तुओं को आशीर्वाद दूँ – सबसे प्रेम करूँ और गले लगा लूँ। तब मैं यह भी देखता हूँ कि पाप एक भ्रान्ति मात्र है। प्रिय फ्रांसिस, इस समय मैं वैसी ही दशा में हूँ और मेरे प्रति तुम्हारे तथा श्रीमती लेगेट के प्रेम और सहानुभूति की याद करके मैं सचमुच ही आनन्द के अश्रु बहा रहा हूँ।

**❖ (क्रमशः) ❖**

**सन्दर्भ-सूची –**

**१३९.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. ३९६; **१४०.** वही, खण्ड ५, पृ. ४०४; **१४१.** वही, खण्ड ४, पृ. ४०५; **१४२.** वही, खण्ड ४, पृ. ४०४; **१४३.** वही, खण्ड ९, पृ. ३४८-४९; **१४४.** वही, खण्ड ६, पृ. ५३; **१४५.** वही, खण्ड ४, पृ. २६०; **१४६.** वही, खण्ड ४, पृ. २५१-५२; **१४७.** वही, खण्ड ४, पृ. २५९-६०; **१४८.** वही, खण्ड ४, पृ. ४०७; **१४९.** वही, खण्ड ५, पृ. ३५४
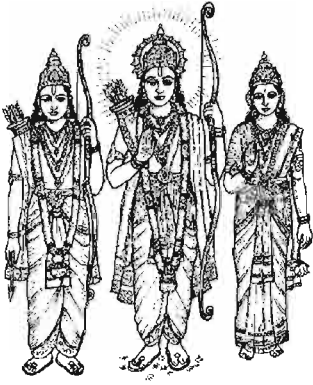
# रामराज्य की भूमिका (६/१)

***पं. रामकिंकर उपाध्याय***

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

व्यक्ति और समाज के जीवन में रामराज्य की स्थापना में कौन-सी समस्याएँ आती हैं, उसी पर एक दृष्टि डालने की चेष्टा करते हैं। जहाँ तक इतिहास का सम्बन्ध है, इतिहास तो यही है कि महाराज श्रीदशरथ ने रामराज्य बनाने का संकल्प किया, किन्तु मन्थरा रामराज्य के विरुद्ध है। वह कैकेयी की प्रिय दासी है और कैकेयी को बरगलाने और भड़काने में समर्थ हो जाती है। मन्थरा से प्रभावित कैकेयी महाराज दशरथ से यह वरदान माँगती है कि राज्य भरत को मिले और राम चौदह वर्ष तक वन में रहकर तपस्या करें। लगता तो ऐसा है कि यदि मन्थरा न होती, तो सम्भवत: रामराज्य बन जाता; या मन्थरा त्रेतायुग की एक नारी पात्र थी, जिसके कारण रामराज्य नहीं बन पाया। परन्तु ये वृत्तियाँ – कुछ पुरुष और कुछ नारी वर्ग की – हर व्यक्ति के अन्त:करण में विद्यमान हैं। मन्थरा हर व्यक्ति के जीवन में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। ज्ञानियों की दृष्टि में मन्थरा द्वैत है।

'मानस' में श्रीराम और श्रीभरत की अभिन्नता का वर्णन किया गया है। आप यदि ध्यान से पढ़ें या सुनें, तो आपको एक महत्त्वपूर्ण सूत्र यह मिलेगा कि श्रीभरत अयोध्या के राज्य को स्वीकार नहीं करते और वे चित्रकूट की यात्रा करते हैं। चित्रकूट में उनका भगवान राम से मिलन होता है। इसके पश्चात् वे प्रभु की पादुकाओं के लेकर आते हैं, सिंहासन पर उन पादुकाओं को प्रतिष्ठित करते हैं और चौदह वर्षों तक वे अयोध्या का राज्य चलाते हैं। मूल सूत्र वही है। चित्रकूट में श्रीराम और भरतजी के मिलन का तात्पर्य क्या है? भरतजी और श्रीराम तत्त्वत: एक ही हैं। इसे हम व्यवहार की प्रतीकात्मक भाषा में कहें, तो दोनों में अत्यन्त साम्य था – इतना कि देखने वाले कभी-कभी उन्हें पहचानने में समर्थ नहीं होते।

**भरतु राम ही की अनुहारी।**
**सहसा लखि न सकहिं नर नारी।। १/३११/६**

तो मानस में भरतजी की जो भूमिका है, उनकी चित्रकूट की जो यात्रा है, यह मानो जीव की यात्रा है और इसका उद्देश्य ईश्वर को, ब्रह्म को पाना है। वैसे उपनिषदों में भी इस बात पर विचार किया गया है कि जीव और ब्रह्म में क्या साम्य है। जीव और ब्रह्म, दोनों अलग-अलग हैं या दोनों एक ही हैं? इस विषय में यों हमारे देश में बड़ा विवाद रहा है, अलग-अलग आचार्यों का मत अलग-अलग है। कुछ लोगों का आग्रह है कि जीव और ब्रह्म एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। जीव और ब्रह्म कभी एक हो ही नहीं सकते। इसे और भी कई सूक्ष्म पद्धतियों से कहा गया है। दूसरी ओर, अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि जीव ब्रह्म ही है – जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है – **जीवो ब्रह्मैव न अपरः**। श्री मध्वाचार्य जी महाराज द्वैत का प्रतिपादन करते हैं और भगवान शंकराचार्य अद्वैत का। श्री वल्लभाचार्य जी महाराज और श्री निम्बार्काचार्य जी महाराज ने विभिन्न रूपों में इस विषय में विचार किया है। मैं उतने विस्तार में नहीं जाना चाहूँगा।

अब प्रश्न उठता है कि इस विषय में गोस्वामीजी की मान्यता क्या है? आचार्यों के परम्परा में वे किस विचारधारा से सहमत हैं? उन्हें जीव-ब्रह्म की एकता स्वीकार है या वे जीव-ब्रह्म की भिन्नता स्वीकार करते हैं? गोस्वामीजी का बड़ा मिला-जुला दृष्टिकोण है। इसे समन्वय की दृष्टि कहते हैं। गोस्वामीजी के जीवन में किसी एक मत के प्रति आग्रह नहीं था। उन्होंने सभी आचार्यों को आदर देते हुए उनके मत को किसी-न-किसी सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। जीव और ब्रह्म के सन्दर्भ में यदि हम उनका दृष्टिकोण समझना चाहें, तो हम भरतजी की इस चित्रकूट-यात्रा और वहाँ श्रीराम और श्रीभरत के मिलन को हृदयंगम करें। भगवान श्रीराम की मान्यता उत्तरकाण्ड में स्पष्ट है। वाटिका में प्रभु भाइयों और हनुमानजी के साथ विराजमान थे। सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार – ये चार महात्मा वहाँ आए। भगवान श्री राघवेन्द्र ने उठकर उनका स्वागत किया, उनके चरणों में प्रणाम किया और उनके बैठने के लिये अपना पीताम्बर बिछा दिया–

**देखि राम मुनि आवत हरषि दंडवत कीन्ह।**
**स्वागत पूँछि पीत पट प्रभु बैठन्ह कहँ दीन्ह।। ७/३२**

जब तक ये महात्मा नहीं आए थे, तब तक प्रभु पीताम्बर ओढ़े हुए थे। इन महात्माओं के विषय में मान्यता यह है कि वैसे तो इनकी आयु बड़ी लम्बी है, पर ये सर्वदा पाँच वर्ष के बालक जैसे दीख पड़ते हैं। यह भी कहा गया हे कि ये सर्वदा नग्न रहा करते हैं। मानो दिशाएँ ही उनके वस्त्र हैं –

**आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं ।। ७/३२/६**

ये चारों महात्मा – सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार मानो मूर्तिमान चारों वेद हैं। इन महात्माओं की दृष्टि क्या है? – ज्ञानमयी। उनका जीवन भी भेदवृत्ति से सर्वथा शून्य है। ये लोग समदरसी हैं और भेदरहित हैं –

**रूप धरें जनु चारिउ बेदा ।**
**समदरसी मुनि बिगत बिभेदा ।। ७/३२/५**

भगवान जब उन्हें देखकर अपना पीताम्बर उतारकर उनके लिए बिछा देते हैं, तो इसका सांकेतिक तात्पर्य क्या हुआ? पीताम्बर क्या है? जैसे आप अपने शरीर पर वस्त्र डाल लीजिए, तो वस्त्र के आवरण के कारण आपका वास्तविक रूप दिखाई नहीं देगा; वैसे ही भगवान पीताम्बर धारण करते हैं और स्वाभाविक है कि पीताम्बर से उनका दिव्य वर्ण ढक जाता है। इन चारों महात्माओं को देखकर प्रभु ने अपना पीताम्बर हटा दिया। क्या तात्पर्य है? जीव और ब्रह्म के बीच जो भिन्नता है, उसका प्रतिपादन माया के रूप में किया गया। इसे अन्यत्र वनयात्रा के प्रसंग में भी आप देखते हैं – आगे श्रीराम हैं, पीछे लक्ष्मणजी – तपस्वियों के वेष में दोनों बड़ी शोभा पा रहे हैं। दोनों के बीच में सीताजी वैसे ही सुशोभित हो रही हैं, जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया –

**आगें रामु लखनु बने पाछें ।**
**तापस बेष बिराजत काछें ।।**
**उभय बीच सिय सोहति कैसें ।**
**ब्रह्म जीव बिच माया जैसें ।। २/१२३/१-२**

यहाँ पर ब्रह्म, जीव और उनके अन्तराल में माया। इसे यों कह लीजिए कि जीव और ब्रह्म में जो अन्तर दिखाई देता है, उस अन्तर का कारण माया है। उसी माया को आप भेदबुद्धि कह लीजिए, अनिर्वचनीया माया कह लीजिए, उस माया की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। किन्तु जब वे जान-बूझकर स्वयं को माया से आवृत्त किए रहते हैं, तब देखने वाले की दृष्टि पीताम्बर में ही अटक जाती है।

हम लोगों के जीवन में ऐसा ही होता है, जब हम मन्दिर में भगवान का दर्शन करने जाते हैं, तो हमारी दृष्टि बहुधा कहाँ अटक जाती है? मन्दिर में जाकर यदि हमारी दृष्टि भगवान के शील, उनके गुण या उनके स्वरूप पर अटके और हमारे अन्त:करण में दिव्य भावनाओं का संचार हो, तो हम सच्चे अर्थों में भगवान का दर्शन कर रहे हैं। किन्तु वहाँ जाकर हम उनकी वेशभूषा देखकर बड़े उत्साहित होते हैं और बहुधा यदि किसी उत्सव का दिन हो, तो एक-दूसरे से कहते मिलेंगे कि आज तो भगवान बड़े सुन्दर लग रहे हैं। सुन्दर क्यों लग रहे हैं? भगवान तो पूर्ण हैं, उनकी सुन्दरता घटती -बढ़ती थोड़े ही है। वे तो एकरस हैं। हम लोग जब कहते हैं कि भगवान आज बड़े सुन्दर लग रहे हैं, तो उसका एकमात्र कारण यह है कि हमारी दृष्टि उनके आभूषणों पर, शृंगार पर, पीताम्बर वस्त्र पर अटक जाती है। यदि उस दिन सुन्दर पीताम्बर धारण करा दिया गया, रेशमी या चमकीला वस्त्र पहना दिया गया, आभूषण सजा दिए गये, उनका मालाओं से शृंगार कर दिया गया, तो हम बड़े उत्साहित होकर कहने लग जाते हैं कि भगवान बड़े सुन्दर हैं। तात्पर्य यह कि हम मायानाथ की माया से आकृष्ट होते हैं। उस माया के आवरण को भेदकर जो मायानाथ है, उन पर बिरले व्यक्तियों की ही दृष्टि जाती है। पुराणों की अनेक कथाओं में इसी बात की ओर संकेत किया गया है।

महाभारत में – दुर्योधन जब भगवान को निमंत्रित करने जाता है और अर्जुन भी जाते हैं, तो वहाँ भी एक सांकेतिक बात है। दुर्योधन पहले पहुँच गया। दुर्योधन ने जब सेवकों से पूछा – श्रीकृष्ण कहाँ है? वे बोले – भीतर शयन कर रहे हैं। वह उतावला था और भगवान के पास तब पहुँचा, जब वे शयन किए हुए थे। दूसरी बात यह भी थी कि भगवान स्वयं को पीताम्बर से ढके हुए थे। इन दोनों बातों के अर्थ पर आप दृष्टि डालें। सोये हुए भगवान और जागे हुए भगवान! दुर्योधन ने जब देखा कि भगवान अपना शरीर पीताम्बर से ढके हुए सो रहे हैं, तो वह भगवान के सिरहाने रखे हुए आसन पर बैठ गया। इसके बाद जब अर्जुन आते हैं, तो वे भगवान के चरणों के पास बैठ जाते हैं। अर्जुन आये, उनके चरणों के पास बैठे और इधर भगवान की आँखें खुलीं। उन्होंने पीताम्बर हटाया और अर्जुन से पूछा – अर्जुन, तुम कब आये? दुर्योधन को बड़ा बुरा लगा। उसने पीछे से कहा – महाराज, मैं पहले आया हूँ। भगवान बोले – यह तो बड़ा संकट है – आये आप पहले और मैंने देखा इनको पहले।

यह भगवान की सांकेतिक भाषा है। दुर्योधन जैसा व्यक्ति भी ईश्वर के पास पहुँच गया है, उनके पास है। कौन ऐसा व्यक्ति है जो ईश्वर के पास नहीं है? ईश्वर तो सर्वाधिक पास है, पर दुर्योधन जैसे व्यक्ति को ईश्वर मिलेगा, तो सोया हुआ मिलेगा और पीताम्बर से ढका हुआ मिलेगा। माया से ढका हुआ ब्रह्म, सोया हुआ ब्रह्म! कबीर के एक दोहे में बड़ी सुन्दर बात है। उनसे जब पूछा गया – सन्त-असन्त सभी के हृदय में जब ईश्वर हैं, तो किसे सन्त कहें और किसे असन्त कहें? कबीर ने स्वीकार किया – जितने घट या शरीर हैं, उसमें हमारे स्वामी विराजमान हैं – ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है कि जिसके हृदय की शैय्या सूनी हो, वहाँ भगवान न हो –

**सब घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न कोय ।**

उन्होंने शैय्या शब्द का प्रयोग किया, सिंहासन शब्द का प्रयोग नहीं किया। जब कोई सिंहासन पर बैठता है, तो जगता है और शैय्या तो बैठने का नहीं, सोने का स्थान है।

वे बोले – संसार के हर व्यक्ति के हृदय की शैय्या पर ईश्वर हैं। तो असन्त कौन है? उन्होंने यही कहा – जिसके जीवन के अन्त:करण की शैय्या पर ईश्वर सो रहा है, सुषुप्त है, वही असन्त है। और जिनके हृदय में जग गया है, चैतन्य हो गया है, वह धन्य और कृतकृत्य हो गया –

**बलिहारी वा घट की जा घट परगट होय ।।**

दुर्योधन जैसे व्यक्ति के अन्त:करण में भी सोया हुआ ईश्वर है और उसकी दृष्टि के सम्मुख भी जो ईश्वर है, वह सोया हुआ है, स्वयं को पीताम्बर के द्वारा, माया के द्वारा आवृत्त किये हुए है। परन्तु जब कोई अर्जुन के समान विनम्र निरहंकारी भक्त भगवान के पास पहुँचता है और नर जब विनम्रता के साथ नारायण के चरणों के पास जाकर बैठ गया, तो प्रभु ने भी अपना आवरण – पीताम्बर हटा दिया और उठकर बैठ भी गये। यहाँ भी यही संकेत है।

हम लोगों के जीवन में उतनी उपलब्धि नहीं हो पाती, क्योंकि हमारी दृष्टि वस्तुत: बहिरंग में उलझती है, अन्तरंग में नहीं जाती। मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि भगवान को वस्त्र नहीं पहनाए जाने चाहिए या शृंगार नहीं किया जाना चाहिए या उनका पीताम्बर हटा दिया जाना चाहिए। ऐसी कोई बात नहीं, पर उसमें मुख्य वृत्ति क्या है? भक्त चाहता है कि भगवान को अर्पित की जानेवाली ये वस्तुएँ धन्य हो जायँ। भक्त से पूछा गया – भगवान आभूषण क्यों धारण करते हैं? भक्त ने उत्तर दिया – **भूषणं भूषणानाम्** – आभूषणों की शोभा बढ़ाने के लिये। वस्त्र भगवान को पाकर धन्य हो गया। भगवान के स्पर्श से वस्त्र की शोभा बढ़ गई। भगवान के स्पर्श से आभूषण की शोभा बढ़ गयी। यदि इस दृष्टि के साथ हम भगवान का शृंगार करते हैं और शृंगार का दर्शन करते समय हमारी दृष्टि इस बात की ओर है कि ये भगवान की सुन्दरता को बढ़ानेवाली वस्तु नहीं है, अपितु भगवान की सुन्दरता तो इन वस्तुओं के आवरण में छिपी हुई है।

भगवान राम जब वन जाते हैं, तो उन्होंने पीताम्बर उतार दिया और छोटा-सा वल्कल वस्त्र पहन लिया, आभूषण उतार दिये। भगवान श्री राघवेन्द्र जब इस वेश में जाने लगे तो गोस्वामी जी से किसी ने पूछा – वस्त्र और आभूषणों में सजे हुए श्रीराम जैसे आकर्षक लगते थे, अब तो वैसे नहीं लग रहे होंगे? उत्तर में गोस्वामीजी ने तालाब का उदाहरण दिया। जैसे किसी तालाब में हरी-हरी काई जल को ढक लेती है और उस काई को हटा दें, तो जल अपने निर्मल रूप में दिखाई देने लगता है। कवितावली रामायण में गोस्वामीजी ने कहा – वस्त्र और आभूषण तो काई के रूप में उनके सौन्दर्य को ढके हुए थे। उनके दूर हो जाने पर, आवरण हट जाने पर तो उनकी सुन्दरता और भी प्रत्यक्ष दीखने लगी –

**कागर कीर ज्यों भूषण चीर,**

**सरीरु लस्यो तजि नीरु ज्यों काई ।। २/२**

गोस्वामीजी लिखने में सावधान हैं, प्रभु जब सिंहासन पर बैठे, तो उन्होंने फिर वस्त्र और आभूषण धारण कर लिये। मायानाथ माया को अस्वीकार नहीं करते। यदि व्यावहारिक अर्थों में देखे, यदि प्रजा उन्हें सजे हुए वस्त्रों और आभूषणों में देखना चाहती है, तो प्रभु उनकी प्रसन्नता के लिये सुन्दर-से-सुन्दर वस्त्र पहन लेते हैं और आभूषणों को धारण कर लेते हैं। गोस्वामीजी ने लिखा – जब सिंहासन पर बैठने से पूर्व प्रभु ने स्नान किया और वस्त्र-आभूषण धारण कर लिया, तो सैकड़ों कामदेव वह सौन्दर्य देखकर लज्जित हो गये –

**करि मज्जन प्रभु भूषन साजे ।**
**अंग अनंग देखि सत लाजे ।। ७/११/८**

सुनने-पढ़नेवालों को भ्रम हुआ कि गोस्वामीजी ने भी तो मान लिया कि भगवान ने जब वस्त्र-आभूषण धारण किये, तो उन्हें देखकर सैकड़ों कामदेव लज्जित हो गये। इसका अर्थ यही हुआ न कि वस्त्र और आभूषण के द्वारा उनकी शोभा में वृद्धि हुई! पर गोस्वामीजी ने क्या चतुराई की? भगवान ने जब वस्त्र-आभूषण धारण किये थे, तब कहा – सैकड़ों काम लज्जित हो गये। और जब वस्त्र आभूषण उतारकर वनमार्ग में जा रहे थे और गाँव के स्त्रियों ने उन्हें देखा, तो उन्हें भी लगा कि श्रीराम को देखकर कामदेव लज्जित हो गये, पर संख्या बदली हुई है। गाँव की स्त्रियाँ सीताजी से कहती हैं – ये तो करोड़ों कामदेवों को लज्जित करनेवाले हैं –

**कोटि मनोज लजावनि हारे ।। २/११६/१**

जब वस्त्र-आभूषण धारण करते हैं, तो सैकड़ों कामदेव लज्जित होते हैं और जब उतार देते हैं, तो करोड़ों कामदेव लज्जित होते हैं। इस प्रकार भगवान द्वारा स्वीकार किया गया कि आवरण ही उनकी माया है। इस माया के कारण ही व्यक्ति की दृष्टि उन मायानाथ तक नहीं पहुँच पाती। जब कोई अर्जुन के समान व्यक्ति सामने होता है, तो भगवान उसके सामने अपना स्वरूप प्रगट कर देते हैं। यहाँ भी सनकादि जैसे भेदबुद्धि-रहित महापुरुष हैं। वस्त्र तो भेदबुद्धि से ही धारण किया जाता है। जब तक व्यक्ति व्यवहार की भूमि में है, तब तक वह वस्त्र धारण करता है, करना भी चाहिये; पर सनक, सनातन, सनन्दन और सनत्कुमार वस्त्र नहीं धारण करते, क्योंकि वे भेदबुद्धि से सर्वथा ऊपर उठ चुके हैं। भगवान शंकर नग्न है। नग्नता या तो उच्छृंखलता है, या फिर अभेद-बुद्धि का द्योतक है। या तो उच्छृंखल व्यक्ति नग्न हो सकता है, या फिर जिसके अन्त:करण में शरीर का भान है ही नहीं, भेदबुद्धि का सर्वथा अभाव है, वह भी नग्न है।

श्रीमद्-भागवत में आपने शुकदेवजी के सन्दर्भ में सुना होगा। जन्म लेते ही नग्न शुकदेवजी वन की ओर भागे और व्यासजी उनके पीछे-पीछे 'पुत्र-पुत्र' पुकारते हुए चले। वहाँ

सरोवर पर स्त्रियाँ स्नान कर रहीं थी, शुकदेवजी वहाँ से निकल गये पर स्त्रियों के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आया, किन्तु व्यासजी के आते ही उन स्त्रियों ने हड़बड़ाकर अपने शरीर को वस्त्रों से ढक लिया। व्यासजी से नहीं रहा गया, उन्होंने स्त्रियों से पूछा कि मुझ जैसे वृद्ध व्यक्ति को देखकर तुमने वस्त्र धारण कर लिया और मेरा किशोर पुत्र, जो युवावस्था की ओर बढ़ रहा है, उसे देखकर तुमने वस्त्र धारण क्यों नहीं किया? स्त्रियाँ बोलीं – आपमें भेदबुद्धि है, आपको बोध है कि यह स्त्री है और यह पुरुष, पर शुकदेव के हृदय में स्त्री-पुरुष का भेद है ही नहीं, अत: उनके सामने हमारे अन्त:करण में कुछ छिपाने की वृत्ति आई ही नहीं।

यही संकेत यहाँ पर सनक आदि महापुरुषों के सन्दर्भ में भी है, जो सर्वथा भेदरहित हैं। उन्हें देखकर जब भगवान अपना पीताम्बर उतार देते हैं, तो मानो वे यह कहना चाहते हैं – व्यवहार के लिए मैंने यह भेद स्वीकार किया था, किन्तु आप भेदबुद्धि-रहित दृष्टि से मेरा साक्षात्कार करेंगे, अत: आवरण हटा दिया। यदि आप भेददृष्टि से देखें, तो हमारे और आपके बीच में एक अन्तराल है, एक दूरी है, एक आवरण है; और यदि भेदबुद्धि से रहित होकर दृष्टि डालें, तो वहाँ आवरण का सर्वथा अभाव है, भेद मिट चुका है, दोनों नग्न है। भगवान का शरीर, जो पीताम्बर से ढका हुआ भाग है, वह अब मानो दोनों पक्ष है। शरीर के आधे भाग में जो वस्त्र है, वह मानो व्यवहार में मर्यादा का पक्ष रखने के लिये है और जब भगवान पीताम्बर उतार देते हैं, तो उन महात्माओं को अनावृत ब्रह्म का साक्षात्कार कराते हैं। इन महात्माओं ने प्रभु को देखा और उनकी स्तुति की। फिर वही सूत्र आया। जब भेद नहीं है, तो कौन किसकी स्तुति करे। सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार यदि अद्वैतवादी हैं, अभेदवादी हैं, यदि वे ब्रह्म और जीव की एकता से परिचित हैं, तो स्तुति क्यों करते हैं? इस पर बड़े विस्तृत रूप से विचार किया गया है। तत्त्वत: यह सत्य है कि कभी-कभी व्यक्ति अपने जीवन में इसका उल्टा अर्थ भी ले लेता है। जैसे यदि कोई व्यक्ति यह अनुभव करे कि जीव और ब्रह्म में भिन्नता नहीं है और मैं ब्रह्म हूँ, तो यह मत भी रामायण में स्पष्ट रूप से आता है। ज्ञान का दीपक जब जलता है, तो – 'सोऽहं अस्मि' (वह ब्रह्म मैं हूँ) यह अखण्ड वृत्ति बनती है –

**सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा ।। ७/११८/१**

यहाँ एक बड़े महत्त्व की बात कही गई। ज्ञान का फल क्या है? ज्ञान से या तो व्यक्ति को अभिमान होगा अथवा मुक्ति होगी। वेद में दो परस्पर-विरोधी बात कही गई – धर्म से वैराग्य, योग से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष मिलता है –

**धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना ।**
**ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना ।। ३/१६/१**

फिर राज्याभिषेक के प्रसंग में वेद जब भगवान की स्तुति करने आते हैं, तो वे भगवान की स्तुति करते हुए एक शब्द कहते हैं – जो लोग ज्ञान के अभिमान में विमत्त हो गये –

**जे ग्यान मान बिमत्त तव**
**भव हरनि भक्ति न आदरी ।। ७/१२-छं-३**

तात्पर्य यह कि 'मैं ब्रह्म हूँ' – इस वाक्य के पीछे ज्ञान है या अभिमान – कह पाना बड़ा कठिन है। यदि व्यक्ति अभिमानी है और सोचता है कि मुझे किसी के सामने झुकना न पड़े, किसी की सेवा न करनी पड़े; दूसरी ओर यह इच्छा तो बनी रहे कि लोग हमें प्रणाम करें, हमारी पूजा करें, हमारी सेवा करें, हमें ब्रह्म माने; पर हम इन बातों से बच जायँ। इसलिए जब कोई व्यक्ति स्वयं को ब्रह्म के रूप में प्रस्तुत करेगा, तो वस्तुत: वह घोर अभिमानी हो जायेगा। जहाँ केवल ज्ञान होगा, वहाँ अभिमान का लेशमात्र भी नहीं होगा –

**ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं ।**
**देख ब्रह्म समान सब माहीं ।। ३/१५/७**

क्योंकि अभिमान तो सर्वदा दो को ही लेकर होता है। बिना दो के तो अभिमान हो ही नहीं सकता। यदि आप अभिमान करेंगे, तो किसी-न-किसी की तुलना में ही तो आप स्वयं को श्रेष्ठ कहकर अपनी श्रेष्ठता का अभिमान करेंगे। यदि आप धन का अभिमान करेंगे, तो किसी निर्धन से अपनी तुलना करेंगे और कहेंगे – इनकी अपेक्षा मैं धनवान हूँ। जब भी अभिमान होता है, तो द्वैतबुद्धि में होता है। यदि सच्चे ज्ञान का उदय हुआ और यदि यह ज्ञात हो गया कि केवल ब्रह्म-ही-ब्रह्म है, दो है ही नहीं, तो कौन किस बात पर अभिमान करे और किससे अपनी तुलना करे।

यही ज्ञान का सच्चा स्वरूप है। खोटे सिक्के बनाने वाले बिल्कुल खरे सिक्के जैसे दिखने वाले ही सिक्के बनाते हैं। इसी प्रकार ज्ञान के इस खरे सिक्के की आड़ में अभिमान का खोटा सिक्का भी, ठीक ज्ञान की तरह दिखता है और यह ज्ञान दूसरों के सामने अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिए व्यग्र हो उठता है। ऐसी स्थिति में, वेदों ने जो सूत्र कहा वह बड़े महत्त्व का है कि ज्ञान हो जाने के बाद भी, अभिन्नता का बोध हो जाने पर भी, ज्ञान के अभिमान में मत्त होकर कौन नहीं गिरेगा? वेद कहते हैं – जो ज्ञान के मद में उन्मत्त होकर आपकी भक्ति का अनादर करते हैं, भक्ति के महत्त्व को कम करके अहंकार करते हैं, ऐसे व्यक्ति उच्च-से-उच्च स्थिति में पहुँच करके भी गिरते हुए दिखाई देते हैं –

**जे ग्यान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।**
**ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि**
**परत हम देखत हरी ।। ७/१२ -छं-३**

मानस में यही माना गया है कि अद्वैत होते हुए भी यदि व्यवहार में द्वैत को स्वीकारना ही है, तो उस द्वैत का सदुपयोग

भक्ति है। भक्ति बिना द्वैत के नहीं होगी और ज्ञान में अद्वैत होते हुए भी, जीवन में भक्ति का द्वैत आ जाय।

हनुमानजी के चरित्र में हम ऐसा ही देखते हैं। उनकी स्तुति करते हुए यह वाक्य कहा गया –

**अतुलित-बलधामं हेम-शैलाभदेहं,**
**दनुजवन-कृशानुं ज्ञानिनाम्-अग्रगण्यम्।**
**सकल-गुणनिधानं वानराणाम्-अधीश,**
**रघुपति-प्रियभक्तं वातजातं नमामि ।। ५/३**

उनको केवल ज्ञानी ही नहीं, अपितु कहा गया – जो ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं। तो ज्ञानियों में अग्रगण्य हनुमानजी लंका से लौटकर आये। श्री सीताजी मूर्तिमान शान्ति हैं। हनुमानजी ने उनसे कृतकृत्यता का वरदान प्राप्त किया है –

**अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता ।। ५/१६/६**

भगवान श्री राघवेन्द्र हनुमानजी के कार्य की प्रशंसा करते हैं और पूछते हैं कि इतने बड़े विशाल दुर्ग लंका को तुमने कैसे जला डाला? हनुमानजी जितने बड़े ज्ञानी हैं, उतने ही बड़े विरागी भी हैं। प्रवृत्ति के लंका-दुर्ग को उन्होंने ज्ञान की अग्नि से जलाकर नष्ट कर दिया। हनुमानजी का यह स्वरूप और उनका यह कार्य सर्वथा अद्वितीय है। वे लंका से लौटकर आए हुए हैं। भगवान श्रीराम को प्रणाम करते हैं और तब भगवान उनकी प्रशंसा करते हैं। हनुमानजी के चित्रों में भी आपने देखा होगा, वे ज्ञानियों में अग्रगण्य होते हुए भी उनको भगवान के चरणों में बैठना ही प्रिय है। चरणों में भी बैठकर वे एकटक भगवान के चरणों को ही देखते रहते हैं। परन्तु उस दिन जब भगवान ने प्रशंसा की, तो हनुमानजी की दृष्टि प्रभु के चरणों से उठी और वे प्रभु का मुख देखने लगे। और केवल मुख ही नहीं देखने लगे। मुख देखने के बाद – प्रसन्न हुए और फिर से भगवान के चरणों में गिरकर कहने लगे – **त्राहि त्राहि** – रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए –

**सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।**
**चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि त्राहि भगवंत ।। ५/३२**

उन्होंने प्रवृत्ति के लंका-दुर्ग को जलाकर नष्ट कर दिया है, मोह की वाटिका को उजाड़ दिया है, तो यह यथार्थ ही है; पर यह हनुमानजी के द्वारा स्वीकार किया हुआ उनका द्वैताद्वैत है। जब हनुमानजी प्रभु के मुखकमल की ओर देखने लगे, तो प्रभु ने मुस्कराकर कहा – चलो, इतनी उन्नति तो हुई। निरन्तर चरणों को देखने के बाद तुमने मुख की ओर तो देखा। हनुमानजी प्रभु से बोले – प्रभो, मुख देखने का एक और ही कारण है। – क्या? बोले – जब आप प्रशंसा करने लगे, तो मुझे याद आ गयी कि एक बार नारद की भी आपने बड़ी प्रशंसा की थी, तो मैं देखने लगा कि क्या यह उसी तरह की प्रशंसा है या इसका कोई दूसरा अर्थ है? – तो क्या लगा? बोले – नहीं-नहीं, महाराज, उनकी प्रशंसा तो आप व्यंग्य में कर रहे थे, पर आप मेरी प्रशंसा उदारता से कर रहे हैं, मेरी किसी विशेषता की नहीं। वहाँ व्यंग्य था, पर यहाँ आपकी उदारता है। हनुमानजी प्रभु के चरणों को पकड़कर बोले – "प्रभो, मेरे लिये तो ये आपके चरण ही सब कुछ हैं।" हनुमानजी तो शंकरजी के अवतार हैं न! इसलिये उन्होंने साथ-साथ याद भी दिला दिया – "नारद ने आपकी प्रशंसा को सत्य मान लिया, तो उन्हें अभिमान हो गया। और अभिमान होने के बाद आपने उन्हें बन्दर बना दिया, तो मैं पहले से ही बन्दर बनकर आ गया हूँ, आपको कष्ट न करना पड़े, मैं काम का बन्दर नहीं बनूँगा, मैं तो राम का ही बन्दर बनूँगा। बन्दर बनकर यदि नाचना ही है, तो काम के संकेत पर भी नाच सकते हैं और राम के संकेत पर भी नाच सकते हैं। तो मैं तो आपका बन्दर हूँ। और जो आपका बन्दर है, आपके संकेत पर नाचता है, उसके लिए तो किसी प्रकार का भय है ही नहीं।"

फिर भी जब हनुमानजी प्रभु को – त्राहि त्राहि – पुकारते हैं, तो इसका क्या अभिप्राय है? – आपकी प्रशंसा से कहीं मुझमें अभिमान न आ जाय, इस सम्भावित अभिमान से मेरी रक्षा कीजिए। और चरणों में गिर पड़े, इसका अर्थ – बोले – प्रभो, प्रशंसा के बाद अभिमान आता है और अभिमान के बाद पतन होता है; तो मैंने सोचा, प्रशंसा तो मेरी हो ही गई है, अब गिरना ही है तो आपके चरणों में ही क्यों न गिरूँ! अन्यत्र गिरने पर तो चोट आती है, पर यहाँ चोट नहीं आती है। जिसने अपनी विजय, अपनी सफलता और अपनी प्रशंसा को आपके चरणों में चढ़ा दिया, वह अभिमान के आघात से बच गया। भक्त और भगवान के बीच यह अनोखा खेल है! चाहे शंकरजी के रूप में कहिये या वेदान्त की भाषा में – हनुमानजी भगवान के अभिन्न रूप हैं। प्रभु हनुमानजी को बार-बार उठाने की चेष्टा करते हैं, पर वे उठ ही नहीं रहे हैं –

**बार बार प्रभु चहइ उठावा।**
**प्रेम मगन तेहि उठब न भावा ।। ५/३३/१**

गोस्वामीजी 'बार-बार' शब्द में बहुत कुछ कह गये। प्रभु मन-ही-मन हनुमानजी से तर्क करते हैं कि तुम उठो। प्रभु ने हनुमानजी से मीठा विनोद करते हुए कहा – मैंने तो सुना है कि तुम ज्ञानियों में अग्रगण्य हो। तुम्हारा गुण और चरित्र भी ऐसा ही है, पर लगता है कि कहीं-न-कहीं तुममें अभी भेद-बुद्धि शेष है। – क्यों? बोले – जब मैं तुम्हें चरण से उठा कर हृदय से लगाना चाहता हूँ, तो तुम्हें हृदय से लग जाना चाहिए। नहीं लगते, तो लगता है कि हृदय और चरण में तुम्हारी भेदबुद्धि है। हनुमानजी ने प्रभु के चरणों को पकड़े हुए ही बड़ा सुन्दर उत्तर दिया, बोले – प्रभो, जब चरण और बुद्धि में कोई भेद ही नहीं है, तो आप चरणों से उठाकर हृदय

**(शेष पृष्ठ २२२ पर नीचे)**

# दु:ख और उसका निवारण

***स्वामी आत्मानन्द***

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

हमारा जीवन सुख और दु:ख से भरा हुआ है। संसार जब तक अस्तित्व में है, तब तक सुख और दु:ख दोनों बने रहेंगे। वे मानो एक सिक्के के दो पहलू हैं। ऐसी अवस्था जीवन में कभी नहीं आयेगी, जब केवल सुख-ही-सुख रहे और दु:ख बिलकुल मिट जाय। तब फिर दु:खों के नाश का क्या तात्पर्य है। हमारे धर्मशास्त्र यह बताते हैं कि जिस प्रकार सुख और दु:ख मन की अवस्थाएँ हैं, उसी प्रकार दु:ख की निवृत्ति भी मन की ही अवस्था है। मन की यह अवस्था अभ्यास से ही प्राप्त की जाती है। भगवान श्रीरामकृष्ण इसका एक सुन्दर उपाय बताते हैं। वे कहते हैं कि संसार में बड़े घर की दासी के समान रहो। यही दु:ख-नाश का एकमात्र उपाय है। बड़े घर की दासी बाबू का सारा कामकाज करती है। बाबू के बच्चे को नहलाती है, सँवारती है, भोजन कराती है, घुमाने ले जाती है, 'मेरा राजा बेटा' कहकर दुलार करती है। यदि बाबू का बच्चा कहीं गिर पड़े, तो दासी 'मेरा लाडला', 'मेरा मुन्ना' कहती हुई दौड़ पड़ती है, बच्चे को उठा लेती है, उसे पुचकारती और प्यार करती है। पर वह अपने मन में यह खूब जानती है कि वह उसका लाडला, उसका मुन्ना, उसका राजा बेटा नहीं है। वह यह खूब जानती है कि उसका लाडला, उसका मुन्ना, उसका राजा बेटा झोपड़ी में पड़ा रो रहा होगा। दासी यह अच्छी तरह से जानती है कि बाबू जिस दिन नोटिस दे देंगे, उस दिन से वह घर की दहलीज पर भी पैर न रख सकेगी। वह जिसे आज 'मेरा लाडला, मेरा मुन्ना, मेरा राजा बेटा' कहकर गोद में उठाती है, उसे तब छू भी न सकेगी। तो क्या अपने बाबू के बच्चे के प्रति दासी यह जो प्रेम प्रदर्शित करती है, वह सब दिखावा है? नहीं, वह दिखावा नहीं है। दासी सचमुच बच्चे को प्यार करती है। परन्तु उस प्यार में आसक्ति नहीं है।

आसक्ति न होने का कारण यह है कि उसमें बच्चे के प्रति मेरापन नहीं है, ममत्व नहीं है। ममत्व, मेरापन या आसक्ति के बिना भी प्रेम सम्भव होता है, और यही यथार्थ प्रेम है। आसक्ति-विरहित ऐसा प्रेम हमें दु:ख से ऊपर उठाने की शक्ति रखता है।

इसीलिए भगवान श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि बड़े घर की दासी की तरह रहो। घर-गृहस्थी है, स्त्री-पुत्र-कलत्र हैं – कोई दोष नहीं। सोचो कि वे सब भगवान के दिये हुए हैं, अतएव भगवान के हैं। सबको अपना कहो, प्रेम दिखाओ सबके प्रति। पत्नी को 'मेरी प्रिये' कहो, पति को 'मेरे प्रियतम' कहो, बच्चे को 'मेरे लाल', 'मेरी मुन्नी' कहो – कोई दोष नहीं, पर हृदय के अन्तरतम प्रदेश से यह जानो कि वास्तव में इनमें मेरा कोई भी नहीं है। ये सब भगवान के हैं। जिस दिन भगवान का नोटिस आ जायेगा, कोई मेरा न रह जायेगा। सब मुझे छोड़कर चले जायेंगे या मैं ही सबको छोड़कर चला जाऊँगा। वास्तव में यदि कोई मेरा अपना है, तो वे हैं ईश्वर। यदि कोई मेरी झोपड़ी है, तो वह है प्रभु के चरण। यह ज्ञानदीप भीतर जलाये रखो। यही संसार में रहने का रहस्य है। इसी ज्ञान से दु:ख की निवृत्ति होती है। यही बड़े घर की दासी के समान संसार में रहना है। मन पर इस विचारधारा का बार बार संस्कार डालना ही अभ्यास कहलाता है।

जब यह अभ्यास सध जाता है, तब सब कुछ ईश्वरमय हो जाता है। किसी प्रियजन की मृत्यु हो गयी – वह भी ईश्वर की इच्छा है। यदि किसी कार्य में सफलता मिली तो वह भी ईश्वर की इच्छा है। यदि कोई कार्य न सधा तो वह भी भगवान की इच्छा है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि ऐसा साधक निश्चेष्ट हो जाय, आलसी हो जाय, अकर्मण्य होकर कहने लगे कि प्रयत्न से क्या होगा, सब कुछ तो ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि साधक क्रियाशील बने, प्रबल कर्मपरायण हो। यदि कोई मृत्यु की शैय्या पर पड़ा हो, तो उसे बचाने के लिए वह अथक प्रयत्न करे और अगर बचा न सके तो कहे कि ईश्वर की इच्छा है। कार्य की सिद्धि के लिए जी-तोड़ परिश्रम करे, पर यदि सफलकाम न हो तो कहे कि ईश्वर की इच्छा है। यही रसायन है, जो दु:ख पर मरहम का कार्य करता है। हम अपना सारा उत्तरदायित्व ईश्वर को सौंप देते हैं। इसीलिए हमें दु:ख नहीं व्यापता। मुनीम साहूकार के व्यापार को चमकाने की अथक चेष्टा करता है। यदि साहूकार को घाटा हो गया तो मुनीम दुखी अवश्य होता है, पर घाटे का दु:ख उसे व्याप्त नहीं कर पाता, क्योंकि घाटा या लाभ उसका नहीं है। वह तो साहूकार का है। उसी प्रकार, संसार मेरा नहीं है, ईश्वर का है : परिवार मेरा नहीं है, ईश्वर का है : मैं तो एक मुनीम हूँ, भृत्य हूँ। यह भक्तियोगी की, कर्मयोगी की भाषा है। मन की इसी अवस्था में दु:खों का नाश सम्भव है। ❑ ❑ ❑

# सुरेश चन्द्र दत्त

*स्वामी प्रभानन्द*

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

१८९४ ईसवी के आसपास की घटना है। एक शाम दत्त-परिवार के लोग अपने भाइयों में सबसे छोटे और अस्से कार्यालय में बड़े बाबू के रूप में कार्यरत चारुचन्द्र के घर लौटने का बेसब्री से इन्तजार कर रहे थे, पर वह नहीं आया। दूसरे दिन भी वह नहीं लौटा और फिर कभी लौटा ही नहीं। उसको खोजने के सारे प्रयास विफल हुए। बाद में पता लगा था कि उसने पत्नी और इकलौते पुत्र को छोड़कर ईश्वर-प्राप्ति के लिए संसार त्याग दिया है। इस घटना से उसके बड़े भाई सुरेशचन्द्र विचलित हो उठे, क्योंकि अपने स्वयं के परिवार के पालन-पोषण के लिए भी वे चारुचन्द्र पर निर्भर थे। वैसे उस समय सुरेशचन्द्र को इस बात का आभास नहीं हुआ था कि इस घटना के बड़े दूरगामी परिणाम होंगे और उनके हृदय में छिपी सांसारिक जीवन के प्रति वैराग्य की चिनगारी एक धधकती ज्वाला में बदल जाएगी।

कलकत्ता के शोभाबाजार में स्थित ६, बलराम मजूमदार स्ट्रीट में १८५० ई. में जन्मे सुरेशचन्द्र दत्त अपने माता-पिता के दूसरे पुत्र थे।[१] उनके पिता माधवचन्द्र हाटखोला (कलकत्ता) के नामी दत्त-परिवार से थे और सरकारी टेलिग्राफ आफिस में क्लर्क थे। कवि के रूप में उनकी कुछ ख्याति थी और 'प्रभाकर' और 'रसराज' नामक समकालीन पत्रिकाओं में उनकी कुछ कविताएँ छप चुकी थीं। साहित्य और कला में रुचि सुरेश को अपने पिता से विरासत में मिली थी। माता त्रैलोक्य-मोहिनी की बुद्धिमत्ता, पवित्रता और सर्वोपरि – दृढ़ इच्छाशक्ति ने बालक के चरित्र-गठन पर गहरा प्रभाव डाला था। सुरेश जब पाँच वर्ष का था, तभी उसकी माता का देहान्त हो गया था, अत: उसका पालन-पोषण उसकी विधवा दादी ने किया। परिवार उदार विचार का होने पर भी, जब उनका बड़ा पुत्र योगेशचन्द्र ईसाई-धर्म अपनाकर परिवार से अलग हो गया, तो उस घटना ने उसके हृदय को सर्वाधिक चोट पहुँचायी।

सुरेश में बचपन से ही सरलता तथा धार्मिक पवित्रता विशेष रूप से दीख पड़ती थी। अपने उदार दृष्टिकोण तथा विवेकी स्वभाव के कारण वे अपने समवयस्कों में एकदम अलग दिखाई पड़ते। अत्यधिक तनाव की स्थिति भी उन्हें आत्मसम्मान तथा स्वाधीनता की भावना से डिगा नहीं सकती थी। एक स्वदेशी विद्यालय में उन्होंने अपनी शिक्षा प्रारम्भ की थी, पर उसकी पढ़ाई अधिक दिन जारी नहीं रह सकी, क्योंकि १८५७ के सिपाही-विद्रोह के कारण समाज में सर्वत्र अशान्ति और अनिश्चितता का वातावरण बन गया था। बाद में उसने अहीरीटोला के बंग विद्यालय में दो वर्ष पढ़ाई की। फिर परिस्थितियाँ ऐसी बनीं कि उन्होंने श्री डफ द्वारा चलाये जा रहे पाइकपारा राजपरिवार के विद्यालय 'द जनरल असेम्बलीज इंस्टीट्यूशन' और अन्तत: 'चर्च मिशन सोसायटी' के स्कूल से एक-एक करके परीक्षाएँ पास कीं। १८७० की एन्ट्रेंस परीक्षा में वे द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। असन्तुष्ट और दुखी सुरेश ने मेडिकल कालेज में प्रवेश लिया, परन्तु एक साल बाद ही उसे छोड़ दिया।

१८७० के दशक के उत्तरार्ध में सुरेश का दुर्गाचरण नाग से परिचय हुआ था, जो उन दिनों डॉ. बिहारीलाल भादुड़ी के यहाँ डॉक्टरी सीख रहे थे। सुरेश से चार वर्ष छोटे दुर्गाचरण निष्ठावान् हिन्दू थे। सुरेश ने यदि उनमें निष्कलंक चरित्र देखा, तो दुर्गाचरण ने भी सुरेश को पवित्र चरित्रवाला सुलझा हुआ व्यक्ति समझा। बाह्य दृष्टि से बिल्कुल विपरीत स्वभाव और दृष्टिकोण वाले होने पर भी दोनों ने आपस में एक-दूसरे के प्रति एक तरह के आकर्षण का अनुभव किया और घनिष्ठ मित्र बन गये। बहुधा उनमें धार्मिक विषयों पर गरमागरम बहस छिड़ जाती।

तत्कालीन अनेक शिक्षित युवकों के समान ही सुरेश का भी ब्राह्म-समाज की ओर झुकाव था और सम्भवत: वे उसके सदस्य भी थे। उनका निराकार ईश्वर की उपासना में विश्वास था। तो भी अपने निष्ठावान् हिन्दू मित्र दुर्गाचरण की पारम्परिक पूजा-अनुष्ठान को देखकर उन्हें इस विषय में सोचने के लिए विवश होना पड़ता। उनके मन में यह द्वन्द्व काफी काल बना रहा और इससे मुक्त होने के लिए सुरेश को बड़ी कीमत चुकानी पड़ी।

चूँकि सांसारिक जीवन का पूर्णत: त्याग नहीं किया जा सकता था, अत: सुरेश उसमें अनासक्त रहने की चेष्टा करने लगे। वैसे यह बताना कठिन है कि अपने जीवन के विभिन्न आकर्षणों के प्रति वे कितना ध्यान देते थे, पर जीवन के भौतिक सुखों के प्रति उनकी जैसी उदासीनता तथा धार्मिक बातों की तरफ जैसा आकर्षण था, उससे उनकी प्रवृत्ति का अनुमान किया जा सकता था। वस्तुत: उनका जीवन साहस, उद्यम और गार्हस्थ्य जीवन के सर्वोत्तम तत्त्वों के प्रति निष्ठा का एक उत्कृष्ट उदाहरण बन

१. मुख्य जानकारियाँ सत्यचरण मित्र द्वारा सम्पादित बँगला मासिक 'प्रतिवासी' (वर्ष २, अंक १०-११, बंगाब्द १३१९) में प्रकाशित सुरेशचन्द्र दत्त की जीवनी से ली गयी हैं।

गया था। सर्वोपरि उद्देश्य के प्रति निष्ठा और उच्च जीवन बिताने की आकांक्षा ने उनके वैचारिक ढाँचे के लिए नींव का काम किया था। ईश्वर में विश्वासी, विनयी और उदासीन स्वभाव के सुरेश दूसरों की टीका-टिप्पणी और कटाक्षों की परवाह नहीं करते।

शीघ्र ही सुरेश और उनके मित्र को आभास होने लगा कि केवल बातें करते रहना निरर्थक है। धर्म की जीवन में अनुभूति होनी चाहिए। उन दिनों सुरेश प्राय: ब्राह्म-समाज के नवविधान-वाले प्रार्थना-मन्दिर में जाया करते थे। एक दिन वहाँ उन्होंने दक्षिणेश्वर के निवासी एक अद्वितीय सन्त के बारे में सुना। आश्चर्य की बात है कि वे उनके विषय में भूल गये और उन्होंने दो महीने बाद ही अपने मित्र दुर्गाचरण को इसकी सूचना दी।

दुर्गाचरण ने ज्योंही सुरेश के मुख से दक्षिणेश्वर के सन्त के बारे में सुना, त्योंही उन्होंने तत्काल उनके दर्शनार्थ चलने की इच्छा व्यक्त की। अत: सबेरे ही भोजन करके दोनों दक्षिणेश्वर की ओर चल दिये। यह १८८२ ई. के अप्रैल की घटना होगी।

तपती धूप में काफी लम्बी दूरी तय कर लेने पर उन्हें पता लगा कि वे लोग दक्षिणेश्वर ग्राम पीछे छोड़ आये हैं। काफी लौटकर अपराह्न के करीब दो बजे वे दक्षिणेश्वर पहुँचे। परमहंस का निवास ढूँढ़ते हुए वे एक लम्बी दाढ़ीवाला व्यक्ति प्रतापचन्द्र हाजरा से मिले, जो विनोद में जटिला-कुटिला कहलाते थे। वे श्रीरामकृष्ण के कमरे के पूरब की ओर के द्वार के सामने बैठे थे। हाजरा ने आगन्तुकों[२] को निरुत्साहित करने के लिये झूठमूठ कह दिया – श्रीरामकृष्ण बाहर गये हैं, अत: वे लोग बाद में किसी अन्य दिन आयें।[३] निराश होकर वे लोग लौट ही रहे थे कि उन्होंने देखा खुले दरवाजे के भीतर से कोई उन्हें भीतर आने का इशारा कर रहे हैं। दाढ़ीवाले व्यक्ति की बगल से भीतर प्रवेश करके उन्होंने उस अद्भुत व्यक्ति का दर्शन किया। उन्होंने अपने जीवन में पहली बार ऐसा विलक्षण व्यक्ति देखा था। वे छोटे तख्त पर उत्तर की ओर मुख किये पैरों को लटकाये हुए बैठे थे।[४] उन लोगों ने सहज ही पहचान लिया कि ये ही वे महापुरुष हैं, जिनके दर्शन के लिए वे लोग आये हैं।

**२.** दुर्गाचरण नाग के निकट के परिचित शरत्चन्द्र चक्रवर्ती के अनुसार प्रताप चन्द्र हाजरा चुप रहे और कोई जवाब नहीं दिया (शरत्चन्द्र चक्रवर्ती : 'नाग महाशय' बँगला, उद्बोधन कार्यालय, भा. ७, अंक ९, पृ. २७०)। अक्षय कुमार सेन की 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथी' (बँगला) नवम संस्करण, पृ. ३०२ के अनुसार श्रीरामकृष्ण उस समय प्रताप से वार्तालाप कर रहे थे।

**३.** सेंट दुर्गाचरण नाग (मद्रास : श्री रामकृष्ण मठ, तृतीय संस्करण), पृ. ४३। यद्यपि प्रताप श्रीरामकृष्ण की स्नेहपूर्ण छत्रछाया में रह रहा था, पर वह नहीं चाहता था कि कोई उनके पास आये। आश्चर्य तो यह है कि उसे अपने इस प्रकार के व्यवहार का पश्चाताप भी नहीं होता था।

**४.** 'तत्त्वमंजरी' (बँगला) (वर्ष १०, अंक १, पृ. १६) में छपे विजयनाथ मजूमदार के लेख 'पूजनीय दुर्गाचरण' के अनुसार श्रीरामकृष्ण कमरे में उपस्थित भक्तों को उपदेश दे रहे थे।

श्रीरामकृष्ण ने अपने स्वभाव के अनुरूप उन लोगों को देखते ही उनका स्वागत किया। दुर्गाचरण ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और उनके चरणों की धुलि ली,[५] पर सुरेश ने ब्राह्मसमाजियों की भाँति केवल हाथ जोड़कर नमस्कार किया। श्रीरामकृष्ण के कहने पर दोनों उनके समीप[६] फर्श पर बिछी चटाई पर बैठ गये।

श्रीरामकृष्ण किसी व्यक्ति के मात्र बाहरी रूप को देखकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे, वे उसके अन्तर में झाँककर देखते थे। उन्होंने सुरेश और दुर्गाचरण के भीतर को अच्छी तरह से देखा और उनकी आध्यात्मिक सम्भावनाओं को परख लिया।

कुछ परिचयात्मक जानकारी के बाद श्रीरामकृष्ण साधना के विषय में चर्चा करने लगे। चर्चा के दौरान उन्होंने कहा, "संसार में पाँकाल मछली की तरह रहो, जो कीचड़ में रहती है। बीच-बीच में संसार से अलग, निर्जन में जाकर भगवान का ध्यान करने से भगवत्प्रेम बढ़ता है। उसके बाद व्यक्ति संसार में अलिप्त भाव से रह सकता है। मछली को कीचड़ में ही रहना है, पर उसकी देह में कीचड़ नहीं लगता। ऐसा व्यक्ति गार्हस्थ धर्म निर्लिप्त भाव से निभा सकता है।" उन्होंने आगे जोड़ा, "संसार में निर्लिप्त होकर रहो। संसार में रहो, पर उसके होकर मत रहो। बस, यह देखो कि तुम्हें संसार की कीचड़ न लगे।"

संसार के बन्धनों और चिन्ताओं में घिरे असहाय सुरेश का संसार-रोग जितना पीड़ादायक था, उसे दूर करने में सहायता तथा मार्गदर्शन करनेवाले की लम्बी खोज उससे कम कष्टदायी न थी। बीच-बीच में होनेवाली आर्थिक कठिनाइयों और इसी तरह की बातों से उत्पन्न उनकी मानसिक पीड़ा तथा चिन्ता बढ़ती ही जाती थी। तो भी उन्होंने कभी संसार त्यागने की बात नहीं सोची, बल्कि धैर्य तथा साहस के साथ सभी कठिनाइयों और कष्टों का सामना किया। जहाँ मानसिक तनाव से मुक्ति और शान्ति पाने की खोज उन्हें ब्राह्म-समाज के नवविधान की ओर ले गयी थी, वहीं लगता है कि श्रीरामकृष्ण की ओर उनका आकर्षण उनकी साहसिकता की पिपासा के चलते हुआ था। वस्तुत: वे उस परमतत्त्व की खोज में थे, जो ज्ञान से भी परे हो। उन्हें सहज भाव से ऐसा लगा कि श्रीरामकृष्ण से उन्हें इस दिशा में कुछ मार्गदर्शन मिल सकता है। अब वे साँस रोके श्रीरामकृष्ण की उस वाणी को सुन रहे थे, जिसने उनके हृदय को झकझोर कर रख दिया था। साथी दुर्गाचरण की भाँति उन्हें भी गहराई से अहसास हो रहा था कि परमहंस के उपदेश विशेषकर उन्हीं के लिए हैं। श्रीरामकृष्ण और उनके व्यवहार में ऐसा कुछ था, जिसे समझाया नहीं जा सकता था। सुरेश पर गहरा प्रभाव पड़ा था; वे उनके प्रति एक अदम्य आकर्षण का अनुभव कर रहे थे।

लगता है कि दुर्गाचरण उनकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावित

**५.** Prabuddha Bharata, मई १९७४, पृ. २०३ (फुटनोट)

**६.** गुरुदास बर्मन : 'श्रीश्री रामकृष्ण-चरित' (बँगला), भा. १, पृ. २०८

हुए थे। वे मंत्रमुग्ध नेत्रों से परमहंस देव की ओर अपलक निहार रहे थे। सुरेश तथा उनके साथी ने वहाँ काफी समय बिताया और इस दौरान श्रीरामकृष्ण के दिव्य प्रभाव ने उनके हृदय में प्रविष्ट होकर उन्हें अभिभूत कर दिया। तभी से सुरेश विस्मयपूर्वक सोचा करते कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने उनके भीतर अद्‌भुत भक्ति का संचार कर दिया था।

श्रीरामकृष्ण ने उन लोगों को पंचवटी में जाकर कुछ देर ध्यान करने को कहा। प्राय: लगभग आधे घण्टे बाद उन लोगों के लौट आने पर श्रीरामकृष्ण उनको लेकर मन्दिर-दर्शन के लिए निकले। ये लोग उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। पहले वे उन्हें द्वादश शिवमन्दिर और फिर राधाकान्त-मन्दिर गये; तत्पश्चात् काली-मन्दिर में प्रतिमा के सामने सुरेश ने श्रीरामकृष्ण में एक विशेष भावान्तर देखा। वे गहन भावसमाधि में डूब गये थे। 'जैसे एक छोटा बालक माँ के आँचल के छोर को पकड़कर उसके चारों ओर चक्कर लगाता है, वैसे ही श्रीरामकृष्ण ने काली एवं शिव की परिक्रमा कर उन्हें प्रणाम किया।'[७] इस दृश्य से सुरेश को आध्यात्मिक जगत् की गहराई और सच्चाई के विषय में एक नयी दृष्टि मिली। वस्तुत: उस समय उन्हें शायद यह भान भी नहीं हुआ कि उनके धर्म-विषयक सारे विचार तितर-बितर हो गये हैं और सभी देवी-देवताओं के सामने प्रणाम भी नहीं किया है, जैसा कि उनके मित्र दुर्गाचरण ने किया था।

लगभग पाँच बजे[८] उन्होंने जगन्माता का प्रसाद पाया। जब वे श्रीरामकृष्ण से विदा लेने लगे, तब उन्होंने उन लोगों को फिर आने के कहा और बोले कि इसी से परिचय घनिष्ठ होगा। श्रीरामकृष्ण ने अपनी मधुर आवाज में बार-बार उनसे जो कहा था – 'फिर आना', उसने सुरेश का मन मोह लिया।[९]

श्रीरामकृष्ण के निश्छल व्यवहार और बाल-सुलभ सरलता में ही सम्भवत: उनके प्रति अटूट आकर्षण और खिंचाव का रहस्य छिपा था। खैर, सुरेश पर इस यात्रा का अद्‌भुत प्रभाव पड़ा। मन्दिर में बहुत कुछ आकर्षक था; उससे किसी अन्य युग के भिन्न संसार की एक झलक मिली थी, तो भी वह झलक काफी कुछ उनके अपने युग की ही थी। अब सुरेश को अपने भीतर एक प्रकार की विश्रान्ति की शीतल छाँह का अनुभव होता। और इससे भी अधिक, उस यात्रा ने उन्हें जीवन का उद्देश्य भलीभाँति समझा दिया था और उनके शुष्क जीवन में कुछ स्निग्धता ला दी थी। बाद के दिनों में सुरेश ने स्वीकार किया था कि श्रीरामकृष्ण की गहरी भक्ति और असाधारण भावसमाधि ने पहली ही भेंट में उन पर अमिट छाप छोड़ दी थी।[१०]

अगले ही हफ्ते सुरेश अपने मित्र के साथ पुन: दक्षिणेश्वर जा पहुँचे। श्रीरामकृष्ण ने परम आनन्दपूर्वक उनका स्वागत किया। वे भावसमाधि में चले गये और बोले, "तुम लोगों ने यहाँ आकर अच्छा ही किया। मैं तुम्हीं लोगों की बाट जोह रहा था।"[११] उनकी सलाह पर उन लोगों ने उस दिन भी कुछ समय पंचवटी में ध्यान किया। श्रीरामकृष्ण ने एकान्त में सुरेश से कहा, "वह (दुर्गाचरण) वस्तुत: धधकती हुई ज्वाला है।" इससे सुरेश के चित्त में अपने मित्र के प्रति गहरी श्रद्धा उत्पन्न हो गयी।

परन्तु दक्षिणेश्वर जाने के लिए सुरेश कभी-कभार ही समय निकाल पाते थे। यद्यपि उनका बुद्धिवादी मन श्रीरामकृष्ण से सहज में ही प्राप्त प्रेम के रंग में रँग गया था, तथापि सुरेश को लग रहा था कि अपने जीवन को सहज-सरल बनाये बिना ईश्वर की ओर अग्रसन नहीं हुआ जा सकता। अत: अब वे अपने नैतिक जीवन को सुदृढ़ बनाने पर जोर देने लगे। सुरेश और दुर्गाचरण श्रीरामकृष्ण के उपदेश को केन्द्र बनाकर अधिकाधिक समय धर्म-चर्चा में बिताने लगे। सुरेश की आध्यात्मिक अनुभव के प्रति बढ़ती रुचि को देखकर दुर्गाचरण ने उन्हें किसी योग्य गुरु से दीक्षा लेने को कहा। ब्राह्म-मत से अनुप्राणित सुरेश इस विचार को ग्रहण नहीं कर पा रहे थे। इस विषय में श्रीरामकृष्ण का ठोस मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए दोनों उनके पास गये। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें दीक्षा की जरूरत समझायी। सुरेश ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "मुझे मंत्रों या ईश्वर के साकार रूप पर कोई विश्वास नहीं है।" श्रीरामकृष्ण बोले, "ठीक है, तुम अभी दीक्षा मत लो। बाद में जब तुम्हें इसकी आवश्यकता का विश्वास हो जाएगा, तब यथासमय तुम्हारी दीक्षा हो जाएगी।"[१२]

एक अन्य दिन सुरेश ने श्रीरामकृष्ण के मुख से सुना, "जिस प्रकार बारह बजने पर घड़ी के मिनट का काँटा घण्टे के काँटे से एक हो जाता है, वैसे ही मेरा मन भी सर्वदा ईश्वर के साथ एक होने को प्रवृत्त रहता है। पर चूँकि मैं मानव-जाति के कल्याण हेतु यहाँ आया हूँ, इसीलिए मैं बलपूर्वक अपने मन को संसार के धरातल पर उतारकर रखता हूँ।"[१३]

सुरेश की अच्छी ही नौकरी थी। पर जब उनके मित्र दुर्गाचरण ने अपनी होमियोपैथी का दवाखाना बन्द करके स्वयं को पूर्णत: साधना में लगा दिया, तो उन्होंने भी अपनी नौकरी छोड़ दी।[१४] शायद पहली बार उन्होंने अपनी नौकरी छोड़ी थी।

---

**७.** स्वामी जगदीश्वरानन्द : 'सुरेशचन्द्र दत्त', Prabuddha Bharata, जून १९४८, पृ. २३२; **८.** Vedanta Kesari, जून १९१८, पृ. ४५; **९.** श्रीरामकृष्ण की संक्षिप्त जीवनी 'श्री श्रीरामकृष्ण लीला' में सुरेशचन्द्र लिखते हैं, "फिर, जब श्रीरामकृष्ण आगन्तुकों को विदा करते समय स्नेह से कहते, 'फिर किसी दिन जरूर आना, किसी दिन जरूर आना' तब इससे भला कौन मुग्ध न होता?"

**१०.** स्वामी जगदीश्वरानन्द : 'भक्त सुरेशचन्द्र दत्त', उद्बोधन मासिक (बँगला), वर्ष ५०, अंक ८, पृ. ४२२; **११.** Saint Durgacharan Nag, पृ. ४८; **१२.** श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका, स्वामी गम्भीरानन्द, नागपुर, भाग २, सं. १९८९, पृ. २९६; १३. सुरेशचन्द्र दत्त : 'श्रीश्री रामकृष्णलीला', 'श्रीश्रीरामकृष्णदेवेर उपदेश' (बँगला) (कलकत्ता : हरमोहन पब्लिशिंग एजेंसी, २८वाँ संस्करण), पृ. १९; **१४.** महेन्द्रनाथ दत्त : 'श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली', बँगला, तृतीय संस्करण, भाग १, पृ. १४६

सुरेश-जैसे गृहस्थों को श्रीरामकृष्ण जो विविध उपदेश देते, उनसे सुरेश को अपना जीवन गढ़ने में बड़ी सहायता मिली थी, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं – ''मोटी स्प्रिंग लगी हुई गद्दी किसी के बैठते ही दब जाती है और उसके उठते ही पहले जैसी हो जाती है। संसारी लोग भी इसी तरह के होते हैं। जब तक वे धर्मचर्चा सुनते हैं, तब तक उनमें धर्मभाव बना रहता है, पर ज्योंही वे अपने रोज के सांसारिक कार्यों में प्रवेश करते हैं, त्योंही सब कुछ भूलकर पूर्ववत् विषयी बन जाते हैं।[१५]

''आदमी में जब तक भोग-वासना है, उसे गार्हस्थ्य जीवन के दायित्वों का पालन करना ही चाहिए। वह उस पक्षी के समान है, जो गंगा नदी में तैरते जहाज के मस्तूल पर अन्यमनस्क हो बैठा है। धीरे-धीरे जहाज समुद्र के भीतर पहुँच जाता है। जब पक्षी को होश आता है, तो देखता है कि किसी भी दिशा में तट नहीं दिख रहा है। वह उत्तर दिशा में जमीन की तलाश में उड़ता है; काफी दूर जाने पर थक गया फिर भी कोई किनारा नहीं मिला। लौटकर फिर वह वहीं जहाज के मस्तूल पर बैठ गया। थोड़ी देर बाद वह पक्षी फिर उड़ा, इस बार दक्षिण दिशा की ओर, पर इस दिशा में भी उसे कोई जमीन नहीं मिली; उसे चारों तरफ सिवाय असीमित समुद्र के कुछ नहीं दिखा। खूब थककर वह जहाज पर लौटा और मस्तूल पर बैठ गया। काफी देर विश्राम करने के बाद पक्षी अब पूरब की ओर, और फिर पश्चिम की ओर गया। जब जमीन का कोई चिह्न नहीं दीख पड़ा, तब लौटकर फिर उसी मस्तूल पर बैठ गया। उसने मस्तूल नहीं छोड़ा, अब उसने पुन: कोई प्रयास नहीं किया।''[१६]

''क्या संसार छोड़ना ही पड़ेगा? संसार के परिवेश में रहकर भी कठोर साधना द्वारा सांसारिकता से मुक्त होना सम्भव है।''[१७]

''हे प्रभो, तुमने ही सब कुछ रचा है, तुम्हीं मेरे एकमात्र आश्रयस्थल हो। यह घर-द्वार, सन्तान, पत्नी, मित्र आदि सब तुम्हारे ही हैं – यदि कोई इस विश्वास के साथ संसार में रहे, तो निश्चय ही उसे ईश्वर-प्राप्ति हो सकती है।''[१८]

''संसार अनित्य है – जो लोग इस बुद्धि के साथ संसार में निर्लिप्त भाव से रहते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करते रहते हैं, उन्हें ईश्वर-प्राप्ति अवश्य होगी।''[१९]

यह सच है कि संसार में निर्लिप्त होकर रहने-जैसा कठिन काम दूसरा नहीं है, तो भी सुरेश को सांसारिक जिम्मेदारियों के बीच में रहकर साधना के प्रयास में काफी कुछ सफलता मिली। सुरेश के समीप रहनेवाले अधिकांश लोग, यहाँ तक कि उनका मालिक भी, यह नहीं देख सकते थे कि परिवार की आशा के केन्द्र और सहारे – सुरेश सनकी दुर्गाचरण के साथ जुड़ गये हैं और दक्षिणेश्वर के पागल पुजारी के चरणों में भक्तिपूर्वक बैठे रहते हैं। जहाँ तक स्वयं सुरेश का प्रश्न था, बीच-बीच में कुछ कठिनाई आने पर भी उन्हें इस कठोर नैतिक जीवन को निभाने में किसी प्रकार की असुविधा नहीं हुई।

केशवचन्द्र सेन द्वारा १८७८ ई. की जनवरी में प्रकाशित श्रीरामकृष्ण के उपदेशों की एक छोटी पुस्तिका को अपवाद मान लें, तो सुरेश ही ऐसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण के उपदेशों को पुस्तकाकार निकाला था। 'परमहंस श्रीरामकृष्णेर उक्ति' (बँगला) का प्रथम भाग २३ दिसम्बर १८८४[२०] को और दूसरा भाग १८८६ में श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के शीघ्र बाद निकला। बाद में इसके दूसरे संस्करण में 'श्रीश्री रामकृष्ण लीला' नाम से उनकी संक्षिप्त सर्वांगपूर्ण जीवनी के साथ ८ भागों में उनके उपदेश भी प्रकाशित हुए थे।[२१] इसका तीसरा संस्करण मेसर्स एस. सी. मित्र एंड कं., ३८ नन्दलाल डे स्ट्रीट, कुठीघाट, वराहनगर, कलकत्ता द्वारा १९०९ ई. के मार्च में प्रकाशित हुआ, जिसमें श्रीरामकृष्ण के ७५० उपदेश थे। बाद में इसमें २०० उपदेश और जोड़े गये। पुस्तक की विशिष्टता इस बात में थी कि सुरेश ने बड़े परिश्रम के साथ विभिन्न स्रोतों से प्राप्त – स्वयं तथा अन्य लोगों द्वारा सुने गये तथा विभिन्न लोगों द्वारा प्रकाशित श्रीरामकृष्ण के मर्मस्पर्शी उक्तियों का संग्रह किया था। उन्होंने अप्रामाणिक सुनी-सुनाई बातों को यथासम्भव अपने ग्रन्थ में नहीं लिया था और भूमिका में पाठकों के समक्ष खुली चुनौती रखी कि यदि कोई व्यक्ति इन उपदेशों में कोई भूल, असत्यता या अतिशयोक्ति सिद्ध कर दे, तो अगले संस्करण में उन सुधारों को समायोजित कर लिया जायगा।[२२] इसी से अनुमान हो जाता है कि लेखक ने इस अनुपम ग्रन्थ को सुसम्बद्ध, प्रामाणिक तथा रोचक बनाने में कितना परिश्रम किया होगा।

इस प्रकार वे जिज्ञासुओं के बीच ठाकुर के सन्देश का प्रचार करने में निमित्त बने।[२३] निश्चय ही रामचन्द्र दत्त और मनोमोहन मित्र की भाँति सुरेश भी उन प्रथम व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने

**१५.** श्रीरामकृष्णदेवेर उपदेश (बँगला), पृ. ७२, क्रमांक २१४: **१६.** वही, पृ. २१३-१४, क्र. ७७०; **१७.** वही, पृ. २१४, क्र. ७७१; **१८.** वही, पृ. १८४, क्र. ६४९; **१९.** वही, पृ. १८४, क्र. ६४८

**२०.** ब्रजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय एवं सजनीकान्त दास; 'समसामयिक दृष्टिते श्री रामकृष्ण परमहंस' (बँगला), कलकत्ता, पृ. ११९; **२१.** 'उद्बोधन', वर्ष २, अंक ११, पृ. १२५; **२२.** 'श्री रामकृष्णदेवेर उपदेश' की भूमिका। **२३.** इस पुस्तक के बारे में स्वामी विवेकानन्द ने अपने १८९५ के एक पत्र में स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखा था, ''सुरेश दत्त का उद्देश्य शुभ है; उसकी पुस्तक भी अच्छी लिखी गयी है; इसमें कोई सन्देह नहीं कि इससे कुछ भला ही होगा। यह अलग बात है कि श्रीरामकृष्ण को उन लोगों ने कितनी गहराई से समझा है!'' – 'स्वामी विवेकानन्द : वाणी ओ रचना' (बँगला), कलकत्ता, तृतीय सं., खण्ड ७, पृ. २५१। यहाँ स्मरणीय है कि इस प्रकाशन से प्रेरित हो सुबोध चन्द्र घोष (बाद में स्वामी सुबोधानन्द) श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आये थे। तत्कालीन पत्रिकाएँ यथा 'बंगवासी', 'दैनिक', 'पाठक', आदि ने इस पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। देखे शंकरीप्रसाद बसु : 'विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष' (कलकत्ता : मंडल बुक हाउस, १९७६), खण्ड २, पृ. २६९-७०

श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में ही अपनी समझ के अनुसार व्याख्यानों, कीर्तन, शोभायात्रा और पुस्तक तथा पत्रिकाओं के प्रकाशन के माध्यम से इस 'नवीन सन्देश का प्रचार-प्रसार' किया था।[२४] यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि बाद में उन्होंने नारदसूत्र, श्रीरामकृष्ण समालोचन, भगवान श्रीरामकृष्ण ओ ब्राह्म समाज, श्रीश्रीरामकृष्ण लीलामृत आदि बँगला पुस्तकें भी लिखी थीं। इससे सुरेश की साहित्यिक प्रतिभा के साथ-साथ उनका धर्म के प्रति लगाव भी परिलक्षित होता है।

पारिवारिक परिस्थितियों ने उन्हें क्वेटा में सेना की नौकरी करने के लिए बाध्य किया। सीमाक्षेत्र में क्वेटा एक महत्त्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि वहाँ कन्दहार के मार्ग की निगरीनी की जाती थी। उन्हें प्रतिमाह दो सौ रुपये मिलते थे। युद्ध के समय अंग्रेज सरकार पानी की तरह पैसे बहाती थी। इससे सेना के कुछ अफसरों में बेईमानी की प्रवृत्ति जाग उठी थी। सुरेश के ऊपर का अधिकारी भ्रष्टाचार में लिप्त था। उसने सुरेश को प्रस्ताव दिया कि यदि वे इस ऊपर की आय को और भी बढ़ाने में सहायता करें, तो उन्हें भी इसमें से एक-तिहाई हिस्सा मिलेगा। सुरेश के सीधे मना कर देने पर अधिकारी नाराज हो गया। बात अधिक न बिगड़े, यह सोचकर सुरेश ने नौकरी ही छोड़ देनी चाही। पर अधिकारी ने आपात् स्थिति कहकर उन्हें नहीं छोड़ा, बल्कि उल्टे अवज्ञा का आरोप लगाकर कोर्ट मार्शल करने की धमकी दी, जिसका सीधा अर्थ था मृत्युदण्ड। सुरेश को कठोर निगरानी में रखा गया।[२५] इन अत्याचारों में अविचलित रहकर सुरेश ने एक दयालु अँग्रेज डॉक्टर के पास पहुँचकर अपनी हृदय की वेदना कह सुनायी। उन्होंने अनुरोध किया कि डॉक्टर उन्हें स्वास्थ्य के आधार पर नौकरी के लिए अयोग्यता का प्रमाणपत्र दे दें। तथापि उन्हें और भी कुछ समय तक नौकरी करनी पड़ी। उनकी जगह दूसरा आदमी आने पर ही उन्हें मुक्ति मिली।

सुरेश आखिरकार इस कष्टप्रद परिस्थिति से छूटकर कलकत्ते की ओर रवाना हुए। वापसी में उन्हें जो कष्ट हुआ, उसकी तुलना में नौकरी का असहनीय कष्ट कुछ भी नहीं था। टेंट के बीस रुपये उन्हें बनारस से आगे नहीं ले जा सके। अन्य कोई उपाय न देख वे पैदल ही निकल पड़े। दयालु लोगों द्वारा यदा-कदा दिया गया भोजन और गीतापाठ ही उनके रास्ते का सम्बल था। अन्त में भागलपुर में एक दयालु सज्जन ने उन्हें हावड़ा तक का टिकट देकर उनकी मदद की। घर पहुँचकर उन्होंने देखा कि उनका और उनके सबसे छोटे भाई का संयुक्त परिवार, इस छोटे भाई द्वारा कमाये जानेवाले २५ रुपये मासिक से किसी प्रकार बड़े कष्टपूर्वक अपना गुजर-बसर कर रहा है।

विपरीत परिस्थितियों से अधीर न होते हुए धैर्यवान सुरेश ने कभी कुली का काम करके, तो कभी आलू बेचकर दिन में आठ आने कमाकर काम चलाया। कुछ सप्ताह के बाद उन्हें ६० रुपये मासिक वेतन की नौकरी मिल गयी। सुरेश ने अब राहत पाकर अपना आन्तरिक जीवन गढ़ने की ओर ध्यान दिया।

कलकत्ता लौटने के बाद वे तुरन्त श्रीरामकृष्ण का दर्शन करने गये। उस समय वे अत्यन्त रुग्णावस्था में काशीपुर के उद्यान-भवन में निवास कर रहे थे। श्रीरामकृष्ण ने उनका हार्दिक स्वागत किया। वे बारम्बार उनके पास जाने लगे, पर मंत्रदीक्षा लेने की अपनी उत्तरोत्तर प्रबल हो रही इच्छा को उनके समक्ष प्रकट नहीं कर पा रहे थे, क्योंकि श्रीरामकृष्ण का स्वास्थ्य उस असाध्य रोग के कारण बिगड़ता जा रहा था। सुरेश किंकर्तव्यविमूढ़ थे।

१६ अगस्त १८८६ को श्रीरामकृष्ण की महासमाधि का समाचार पाकर सुरेश दु:ख के सागर में डूब गये और बार-बार पश्चाताप करने लगे कि उन्होंने दुर्गाचरण की सलाह मानकर पहले ही दीक्षा क्यों नहीं ले ली। अत्यधिक शोक के कारण वे कई हफ्ते सो न सके। उनके हृदय में हाहाकार मच गया। गहरी रात में वे अकेले गंगा के तट पर चले जाते और प्रार्थना करते कि कहीं कोई आशा की किरण दिख जाय। एक रात गंगा के किनारे बहुत देर तक प्रार्थना करके वे वहीं पड़े थे। श्रीरामकृष्ण गंगा में से बाहर आये और उनके पास आकर उन्हें मंत्र प्रदान करके दीक्षित किया। सुरेश ने भक्ति के आवेग में आगे बढ़कर उनके चरणों को छूने के लिए हाथ बढ़ाया ही था कि वे अदृश्य हो गये। श्रीरामकृष्ण की कृपा पाकर सुरेश साधनाओं में डूब गये।

अब ठाकुर के पावन संस्पर्श ने उन्हें ईश्वर-प्राप्ति के लिए इतना अधिक उत्सुक कर दिया कि वे प्राय: अपने परिवार के कुछ महीने की भरण-पोषण की व्यवस्था करने के बाद एकान्त में जाकर पूरी तौर से स्वयं को साधना में निमज्जित कर देते।[२६] परिवार के सदस्यों की नाराजगी के बावजूद वे बारम्बार ऐसा ही करते रहते। वे लोग शंकित और चिन्तित हो संसारिक कर्तव्यों की अवहेलना के लिये उनकी कठोर आलोचना करते; पर वे शान्त भाव से सब कुछ सहते और सर्वदा अपनी अन्तरात्मा की आवाज के अनुसार कार्य करते। इधर परिवार के सदस्य सुरेश के हाव-भाव के विषय में बड़े शंकालु होते जा रहे थे और उधर सुरेश के चित्त में ईश्वर के प्रति विश्वास और शरणागति का भाव क्रमश: बढ़ता ही जा रहा था। यह एक बड़े आश्चर्य की बात थी कि सुरेश जब से ईश्वर पर अधिकाधिक निर्भर होते जा रहे थे, ज्योंही उनकी – कम या अधिक आयवाली – एक नौकरी छूटती, त्योंही उन्हें शीघ्र दूसरी नौकरी मिल जाती, जिससे घर का खर्च निकल जाता। इस प्रकार जरूरी आवश्यकताओं की पूर्ति से सन्तुष्ट सुरेश दृढ़तापूर्वक जीवन की अपनी आन्तरिक यात्रा में अग्रसर होते रहे और हमेशा आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य के प्रति दृढ़संकल्प बने रहे। (शेष पृष्ठ २२४ पर)

**२४.** हिस्ट्री ऑफ रामकृष्ण मठ एण्ड मिशन, स्वामी गम्भीरानन्द, कलकत्ता १९५७, पृ. ४१; **२५.** उद्‌बोधन, वर्ष १४, अंक १२, पृ. ७७३

**२६.** 'प्रबुद्ध भारत', जून १९४८, पृष्ठ २३४

# मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

*डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर*

## २४१. सन्त हृदय नवनीत समाना

हजरत उमर तब राजा थे। पड़ोस के राजा के साथ उनकी अनबन चल रही थी। दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ जोरों पर थीं। एक दिन सहसा हजरत के मन में ख्याल आया कि युद्ध से जनशक्ति का बड़ा नाश होता है, अत: क्यों न आपस में समझौता कर लिया जाय ! उन्होंने पड़ोसी राजा के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजा। राजा को हजरत का सुझाव पसन्द आ गया और उसने उन्हें बातचीत के लिये आमंत्रित किया।

हजरत उमर ऊंट पर सवार हो राजा से मिलने चल पड़े। साथ में एक गुलाम भी था, जो हाथ में ऊंट की नकेल पकड़े हुए था। दोपहर को जब हजरत का गुलाम की ओर ध्यान गया, तो उन्हें उस पर दया और स्वयं पर ग्लानि भी हुई कि यह बेचारा सुबह से पैदल चलते-चलते थक गया होगा और वे ऊंट पर बैठा सफर कर रहे हैं। उन्होंने गुलाम को जबरन ऊंट पर बैठाया और स्वयं नकेल पकड़कर पैदल चल पड़े।

राजा को जब पता चला कि हजरत उनसे मिलने चल पड़े हैं, तो वह भी उनकी अगवानी के लिये निकल पड़ा। थोड़ी देर बाद जब उसे वे दोनों दिखाई पड़े, तो राजा ने ऊंट पर सवार गुलाम को हजरत समझकर उसका अभिवादन किया। गुलाम बेचारा सँकुचा गया और बोला, "बादशाह सलामत, मैं गुलाम हूँ, राजा तो नकेल पकड़े हुए हैं।" सुनकर राजा को गुस्सा आ गया, बोला, "बदतमीज, तू बड़ा ढीठ है, जो अपने राजा को पैदल चलने दे रहा है और खुद ऊंट पर बैठा है।" तब हजरत ने बताया – "पैदल यही चल रहा था। पर मैंने सोचा कि इसके पैरों में छाले पड़ जायेंगे, तो मैंने ही इसे जबरन ऊंट पर बिठाया है।" यह सुनकर राजा गद्गद हो उठा और बोला, "सचमुच आप खुदा के बन्दे हैं। खुद पैदल चलकर गुलाम के दुख-दर्द को अपना दुख-दर्द समझकर आपने इंसानियत का फर्ज निभाया है। आप जैसे नेकदिल इंसान के साथ यदि मैं जंग करता, तो खुदा मुझे कभी माफ न करता। सेवक के प्रति नेकदिली कोई आपसे ही सीखे।"

## २४२. सदाचार और सद्-व्यवहार की महिमा

म्यामार (ब्रह्मदेश) के भूतपूर्व प्रधानमंत्री ऊ नू तब ९ वर्ष के थे। उनकी माँ प्रतिदिन सुबह मन्दिर जाया करती थी और साथ में ऊ नू को भी ले जाती थी। बालक ऊ नू को ईश्वर में जरा भी आस्था न थी। उसे तो वहाँ के पुजारी की टोपी में आकर्षण था और वह उसकी ओर लालायित नजरों से देखा करता था। ऊ नू माँ से हमेशा जिद करते कि वे उनके लिये वैसी ही टोपी खरीद दें, पर माँ उस ओर ध्यान ही नहीं देती थी। एक दिन जब ऊ नू ने उसके लिये खूब जिद की, तो माँ ने उनसे कहा, "बेटे, यह कोई साधारण टोपी नहीं है। इसे वही पहन सकता है, जिसका आचरण नेक हो।" ऊ नू ने जब माँ से नेक आचरण के बारे में पूछा, तो उसने बताया, "नेक आचरण का अर्थ है – सदाचार। दयालुता, उदारता, क्षमा, नि:स्वार्थ, विनम्रता, सत्यता, सहनशीलता ये गुण सदाचार कहलाते हैं। जिसमें ये गुण विद्यमान हों, जिसके विचार उत्तम हों, जिसका आचरण अच्छा हो, उसका चरित्र अच्छा माना जाता है और वही इस टोपी को पहनने का अधिकारी होता है।" ऊ नू ने कहा, "माँ, मैं आपसे वादा करता हूँ कि आपने जो भी गुण बताए हैं, मैं उन्हें आत्मसात् करूँगा और उनका ईमानदारी से पालन करूँगा।" माँ ने कहा, "बेटा, मुझे पूरा विश्वास है कि तू अपना वचन पूरा करेगा और सबके साथ सदाचरण करेगा।" उन्होंने ऊ नू को टोपी खरीद दी। ऊ नू ने अपने वचन का आजीवन पालन किया। इसी के परिणामस्वरूप वे बड़े होकर प्रधानमंत्री जैसे सर्वोच्च पद पर पहुँचे और लोकप्रियता भी हासिल की।

जीवन में नैतिकता को अपनाने और दुर्गुणों का परित्याग करनेवाला ही लक्ष्य को पाने में सफल होता है।

## २४३. जिस मरने से जग डरे, सो मेरे आनन्द

प्रसिद्ध क्रान्तिकारी रामप्रसाद बिस्मिल को जब फाँसी की सजा सुनाई गई, तो उनके माता-पिता कारागार में जा पहुँचे। बिस्मिल ने उन्हें देखा, तो उनकी आँखें डबडबा गईं। माँ बोली, "राम, देश की आजादी के लिए तेरे जैसे बलिदानी बेटे को जन्म देने के लिए मैं स्वयं को धन्य मानती थी, पर तेरी आँखों के आँसुओं ने मुझे निराश कर दिया। मैं तो सोच रही थी कि मेरा बेटा हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर चढ़ेगा, पर ..."। वीर बिस्मिल ने बीच में ही टोकते हुए कहा, "माँ, भले ही दूसरे लोग 'मृत्यु' शब्द सुनते ही भय से काँप उठते हो, पर मैं उनके समान कायर नहीं हूँ। तुमने मुझे उन्हीं के जैसा कैसे मान लिया? मैंने तुम जैसी वीर माता के कोख से जन्म लिया है। ऐसा पुत्र फाँसी के तख्ते पर जाने से पहले भला कैसे विचलित हो सकता है? प्यारी माँ, ये पश्चाताप के नहीं, खुशी के आँसू हैं। फाँसी की पूर्वसन्ध्या पर मुझे विदा करने तुम्हें आया देख और तेरी आँखों में हर्ष और उमंग की झलक पाकर मेरी आँखों से खुशी के आँसू निकल आए। माँ, मैं वचन देता हूँ कि अगले जन्म में भी तुम्हारी ही कोख से जन्म लूँगा।" इतिहास साक्षी है कि मृत्यु से अभय यह वीर सपूत फाँसी के फन्दे पर हँसते-हँसते झूल गया। ❑❑❑

# सारगाछी की स्मृतियाँ (७)

*स्वामी सुहितानन्द*

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में लिख रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

उस समय सारगाछी आश्रम के सभी लोग ३ बजे रात में ही जाग कर, स्नान आदि करके साढ़े तीन बजे मन्दिर में उपस्थित होते थे। ५ बजे से सभी लोग एक साथ मन्दिर के समस्त कार्य – सफाई करना, फूल तोड़ना, चन्दन घीसना, फल काटना, नैवेद्य सजाना आदि सम्पन्न कर ६ बजे के अन्दर मन्दिर से नीचे उतर कर आ जाते थे। ठाकुर को एक कटोरी आश्रम का दूध भोग लगाया जाता था। उसी दूध में से चाय के लिये थोड़ा उपयोग होता था एवं एक कप दूध प्रेमेश महाराज को दिया जाता था।

महाराज जी सबेरे नाश्ते में साधारणत: आउस धान का मुर्रा खाते थे। (तब आश्रम में आमन धान का मूर्रा नहीं था) वह मुर्रा आश्रम में ही भूना जाता था। भास्कर महाराज दो-तीन दिन के अन्तराल में एक डिब्बा में रख देते थे। वे महापुरुष महाराज जी के शिष्य थे। वे वृद्ध संन्यासी थे। वे थोड़ा-बहुत प्रेमेश महाराज जी की सेवा करते थे एवं उनके कमरे में एक खाट पर सोते थे। साधारणत: महाराज जी सबेरे नाश्ता के समय मुर्रा में एक चम्मच घी और कुछ काली मिर्च मिलाकर खाते थे। आश्रम के उद्यान में खीरा होने पर कुछ खीरा भी खाते थे, बाद में पका हुआ पपीता एवं आम थोड़ा-थोड़ा दिया जाता था।

बंकू-दा रसोइया थे। वे सबेरे नाश्ता परोसने के बाद समय मिलने से प्रेमेश महाराज जी के लिए एक कप दूध लाकर देते थे। तब तक महाराज जी का सबेरे का नाश्ता हो जाता था। उसके बाद वे बैठकर कुछ लिखते थे या चिट्ठियों के उत्तर देते थे। बंकू-दा को आने में प्रतिदिन ही देर हो रही है देखकर एक सेवक महाराज जी के लिये दूध लाने लगा। तीन दिन लाने के बाद महाराज ने कहा – "देखो, बंकू दूध देने के बहाने प्रतिदिन एकबार आकर मुझे देख जाता था, वह तो अब नहीं हो रहा है। इसलिये उसको ही दूध लाने देना, थोड़ी देर होने से भी मुझे कोई परेशानी नहीं होगी।

**१४.०३.१९५९**

महाराज – उस दिन एक ब्रह्मचारी आया था। उसने कहा कि Complete Works – 'विवेकानन्द साहित्य' को उसने कंठस्थ कर लिया है, क्योंकि बाद में व्याख्यान देने के लिये आवश्यकता पड़ेगी। मैं चुप रहा। मन्द ही सही, कुछ भी नहीं करने की अपेक्षा स्वामीजी के उपदेश का चिन्तन तो कर रहा है। किन्तु जो लकड़ी फाड़ कर जीविका चलाता है, वह रोज लकड़ी फाड़ने का कार्य मिलने से निश्चिंत रहता है। वह एक बार भी नहीं सोचता है कि दूसरे किसी सहज सुन्दर उपाय से भी जीविका चलायी जा सकती है या नहीं। उसी प्रकार वे सब साधु, जो व्याख्यान आदि में मत्त रहते हैं, वे लोग सोचते हैं कि अच्छा चल रहा है। वे लोग एक बार भी नहीं सोचते कि दूसरा कोई उपाय है या नहीं।

**२०.०३.१९५९**

सेवक – पूर्वाश्रम के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध रहना चाहिये?

महाराज – साधु होने के बाद भी घर का 'मैं' – अहंकार नहीं जाता है। इसलिये दिन-रात विचार करना है कि मैं देह नहीं हूँ, मन नहीं हूँ एवं बुद्धि नहीं हूँ। मेरा यथार्थ अस्तित्व है – मैं ठाकुर की सन्तान हूँ। यहाँ तक कि साधु का बंगालीपन नहीं जाता है। वह दूसरे से घृणा करता है। कोई-कोई संन्यास के बाद घर जाते हैं, कैसा सजा हूँ, यह दिखाने के लिये ! सामान्य भाव से रहना चाहिये। 'साधु हुआ हूँ, तो पुन: माता-पिता का मुख नहीं देखूँगा' ऐसी भावना ठीक नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर खबर रखना, किन्तु सावधान रहना पड़ेगा। नहीं तो धीरे-धीरे फँस जाओगे। सांसारिक लोगों में बहुत से लोग बड़ा गड़बड़ करते हैं।

एक दिन किसी ने एक आलपिन फेंका था।

महाराज – उसे फेंक दिया तो, नहीं तो, यदि किसी के पैरों में लग जाय तो?

सेवक – उससे कुछ नहीं होगा।

महाराज – नहीं होगा? हम लोग वृद्ध आदमी हैं, सब कुछ में ही सन्देह होता है। १०० साल में कुछ नहीं होता है, किन्तु एकदिन में ही हो जाता है। देखता था कि ट्रेजरी में सालों-साल बन्दूक कंधे पर लेकर पहरा दे रहे हैं, कुछ भी नहीं होता है, केवल पहरा दे रहे हैं। अचानक १९४२, में आक्रमण हुआ। इस १९४२ के लिये ही इतने दिनों से तैयारी चल रही थी।

**२२.३.१९५९**

स्वामी सुखदानन्द महाराज जी 'माँ' के शिष्य हैं। वे सारगाछी आश्रम के महन्त हैं। वे प्रेमेश महाराज की बहुत श्रद्धा करते हैं एवं महाराज जी की सेवा के लिये प्राण-पण से कोशिश करते हैं। आज उनका एक ऑपरेशन होगा। डॉ. चौधुरी ऑपरेशन करेंगे। सुखदानन्द महाराज बहुत घबरा गये

हैं। शल्य क्रिया के पहले वे प्रमेश महाराज जी को प्रणाम करने के लिये आये हैं। महाराज ने कहा – "मुझे भी बहुत डर लगता है, बहुत ही घबरा जाता हूँ।" यह बात सुनकर सुखदानन्द महाराज जी ने चैन की साँस ली।

तोतो नाम का एक युवक महाराज जी के पास आता है। जप-ध्यान के विषय में बहुत ही उदासीनता का भाव दिखा रहा है। महाराज जी ने उसे ऐसे कहा जैसे वह ठीक ही कर रहा है। बाद में उन्होंने कहा – "अब से तो कर सकते हो।"

**२५-०३-१९५९**

बहरमपुर से नारायण बाबू और डॉ. चौधुरी आये हैं। डॉ. चौधुरी ने महाराज जी का चरण स्पर्श कर प्रणाम किया महाराज – मस्तिष्क (ब्रेन) बिल्कुल खराब हो गया है। आधे घण्टे पहले की बातें भी याद नहीं रहती हैं।

नारायण बाबू – हाँ, आप याद नहीं रखना चाहते हैं, इसलिये याद नहीं रहता है।

महाराज – सही बात है, वे सब बातें अब और अच्छी नहीं लगतीं। केवल अपने मूल विषय को अन्त तक ठीक रखने से ही हो गया।

महाराज (डॉ. चौधरी को) – आप थे, इसलिए सुखदानन्द जी की इतनी बड़ी शल्यक्रिया निर्विघ्न हो गयी।

डॉ. चौधुरी – मैं कौन हूँ? ठाकुर ने ही किया है।

महाराज – हाँ, वे लिखते हैं, किन्तु लेखनी भी अच्छी होनी चाहिये। अब जाइये, रहने से भेंट होगी।

डॉ. चौधुरी – रहने से का अर्थ?

महाराज – हमलोग मरने के बाद मरकर 'नहीं' नहीं होंगे, विशाल होंगे।

डॉ. चौधुरी – मरेंगे? हमलोगों को डूबाकर !

महाराज – देखिये हमलोग संन्यासी हैं, हमलोगों को सदा मृत्यु का चिन्तन करना पड़ता है। एक लड़की आती थी। तब वह छोटी थी, उससे प्रतिदिन मृत्यु की बात कहता था, इसलिये वह नाराज होकर कहती – "आप मुझसे मृत्यु की बात क्यों करते हैं?" अब हँसती है। सुन-सुनकर समझ गयी है। अभी वह कॉलेज में प्राध्यापिका है।

रात में सेवक को महाराज जी ने कहा – जब भी समय मिले जप करना। इसका अभ्यास करना होगा। रात्रि में सोने के पहले कम-से-कम १० मिनट चिन्तन करना। चिन्तन करना कि तकिया के ऊपर ठाकुर, माँ एवं स्वामीजी के चरण हैं और तुम सोये हुए हो।"

सेवक – यह संसार कितना सत्य है?

महाराज – जब तक यह हमारे सम्मुख अभिव्यक्त हो रहा है, तब तक सत्य प्रतीत हो रहा है। आँखे नहीं रहने से इस संसार में मेरे देखने योग्य कुछ भी नहीं है। जब हम स्वप्न में कुछ देखते हैं, तो क्या वह मिथ्या बोध होता है? तब वह जितना सत्य प्रतीत होता है, यह वास्तविक संसार भी निद्रा से उठने की अवस्था में उतना ही सत्य है, इससे अधिक नहीं है।

माँ ने रासबिहारी महाराज जी के शरीर में पैर लग जाने पर प्रणाम करके कहा – "बेटा, तुम लोग देव-दुर्लभ सम्पत्ति हो।" वास्तव में ही तुम लोग देव-दुर्लभ धन हो। इतनी कम उम्र में संसार की ओर थोड़ा सा भी न झुककर माता, पिता, आत्मीय, परिजन सब कुछ छोड़कर चले आये हो। मैं तो सबसे अधिक उम्र में आया हूँ। तुम लोगों को तो देवता देख रहा हूँ। आजकल देवताओं के सामान लड़के सब आ रहे हैं।

मैं तो ठाकुर की संतानों के पास से जो प्राप्त किया हूँ, उसी को लेकर चुपचाप पड़े रहना उचित था। किन्तु मूर्खतावशात् प्रचार करूँगा, ऐसा सोचकर अंहकार किया हूँ। इसीलिये शारीरिक कष्ट से इतना भुगत रहा हूँ। मैं विषादग्रस्त हो गया हूँ। मेरे स्नायु (Nerves) बड़े ही (Sensetive) संवेदनशील हो गये हैं – बिल्ली की आवाज, पक्षी की आवाज और लोगों की दुर्दशा देख कर शान्त नहीं रह पाता हूँ। हमलोगों की बड़ी शोचनीय अवस्था है। न तो देह-मन के बाहर जा सका, न ही इसमें रहकर मर सका। मैं सब कुछ जानता हूँ – मैं जानता हूँ कि जीवन दुःखमय है। लोगों के भविष्य देखता हूँ और चौंक उठता हूँ। मैंने एक दिन देखा कि एक पिता एक सुन्दर लड़के को लेकर आया है। मैं तो चौंक उठा कि यदि लड़का अचानक गिरकर मर जाय तो ! मेरे पहचान के ऐसे बहुत से लड़के थे। एक आबू नामक लड़का था – उसमें छोटे से ही काम नही था, उसमें थोड़ा-सा भी लोभ नहीं था – एकदम देवता था !

❖ (क्रमशः) ❖

**पृष्ठ २१३ का शेषांश**

से क्यों लगाना चाहते हैं? यदि मैं चरणों से उठकर हृदय से लगूँ, तब तो माना जायगा कि चरणों और हृदय में भेद है कि हृदय ऊपर है और चरण नीचे हैं। मेरी दृष्टि में तो आप हृदय में भी पूर्ण हैं और चरण में भी पूर्ण हैं, अत: मैं चरणों को छोड़कर हृदय से लग जाऊँ, इसकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि ज्ञानी तो सर्वत्र ब्रह्म ही देखता है –

**देख ब्रह्म समान सब माहीं ।। ३/१५/७**

भेद को स्वीकार किये बिना व्यवहार चलेगा नहीं। चाहे कोई कितना भी बड़ा वेदान्ती क्यों न हो, व्यवहार में तो भेद को, द्वैत को स्वीकार करेगा ही। तो भेद का सबसे सार्थक उपयोग वही है, जो हनुमानजी ने किया। उन्होंने भक्ति के द्वारा प्रभु की कृपा प्राप्त करके धन्यता अनुभव किया। उसमें हनुमानजी के चरित्र का ज्ञान में कोई फर्क नहीं आया, बल्कि उनका ज्ञान अभिमान से सुरक्षित है। ❖ (क्रमशः) ❖
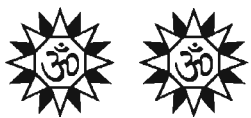
# स्वामी प्रेमानन्द के संग में (२९)
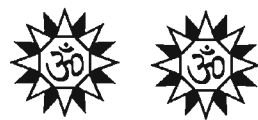
(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। वे मठ के मन्दिर में पूजा भी किया करते थे। बँगला भाषा में हुई उनकी धर्म-चर्चाओं को स्वामी ओंकारेश्वरानन्द लिपिबद्ध कर लेते थे और बाद में उन्हें ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित भी कराया था। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ उसी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

## पंचम परिच्छेद

प्रेमावतार स्वामी प्रेमानन्द मालदा के भक्तों के अतीव आग्रह पर १४ ज्येष्ठ १३२१ (१९१४ ई. का मध्य भाग), शुक्रवार को दोपहर में लगभग बारह बजे मालदा आ पहुँचे। उनके साथ श्रद्धेय स्वामी धीरानन्द, ब्रह्मचारी चारुचन्द्र तथा एन्टाली के कृष्ण बाबू आदि भी थे।

मालदा स्टेशन पर गाड़ी के ठहरते ही बारम्बार जय-जयकार होने लगी। उनके शुभागमन के उपलक्ष्य में स्टेशन को भलीभाँति सुसज्जित किया गया था, लोगों की भीड़ लगी हुई थी। देखने में आया – हाथ में पताका लिए बालकों की टोली, बड़े-बड़े छत्ते, पंखे, चामर, घण्टा, खोल, करताल, पखावज आदि बहुत कुछ लाया गया था।

स्टेशन पर कुछ मिनट बैठने के बाद पूज्यपाद बाबूराम महाराज, स्वामी धीरानन्द, ब्रह्मचारी चारुचन्द्र तथा अन्य भक्तों के साथ रवाना हुए। धर्मसागर के उस पार तम्बू लगाये गये थे। वहाँ पर दोनों स्वामियों तथा ब्रह्मचारी को विविध प्रकार की पुष्प-मालाओं से विभूषित किया गया। एक टोली क्लेरिनट तथा पखावज के साथ इसी अवसर के लिए रचित एक गीत गाते हुए साथ चला। पीछे-पीछे हजारों बालक, युवक तथा वृद्ध भी चल रहे थे। नगर के मुख्य मार्ग के दोनों तरफ के दालानों के ऊपर से महाराज के ऊपर लावों तथा पुष्पों की वर्षा की जा रही थी। माताओं की टोली बारम्बार मांगलिक उलूध्वनि कर रही थी। शोभायात्रा शीघ्र ही बाबूराम महाराज के लिए निर्दिष्ट आवास तक आ पहुँची।

भोजन तथा विश्राम करने के उपरान्त शाम को महाराज उत्सव-प्रांगण देखने गये।

रविवार, १६ ज्येष्ठ को उत्सव का दिन था। स्वामी धीरानन्द पुजारी थे। रात के अन्तिम पहर में मंगल-आरती हुई। फिर सुबह पूजा और कीर्तन हुआ। दोपहर को प्रसाद-वितरण तथा दरिद्र-नारायण-सेवा हुई; और अपराह्न में एक विराट् जनसभा हुई। सभा की अध्यक्षता मालदा के सुप्रसिद्ध गोसाईं प्रतापचन्द्र गिरिजी ने की और वक्ता थे स्वामी प्रेमानन्द।

यथासमय महाराज उत्सव के स्थान पर जा पहुँचे। वहाँ लोगों की भीड़ लगी हुई थी। नगर तथा आसपास के बहुत से गण्यमान्य सुशिक्षित लोग भी उपस्थित थे। सभी उनके उपदेश सुनने को बड़े उत्सुक थे। उपस्थित भक्तों में से कोई-कोई महाराज से धर्म-विषयक प्रश्न करने लगे और वे भी उत्तर देकर उन्हें सन्तुष्ट करने लगे। इसके बाद सभापति के आमंत्रण पर बाबूराम महाराज विपुल जनसमूह के सामने जा खड़े हुए।

तेजोमय गैरिक वसन से भूषित शान्त सौम्यदर्शन संन्यासी-प्रवर का दर्शन करते ही विराट् जनसमुद्र मौन हो गया। सभा-मण्डप एक अवर्णनीय निस्तब्धता से भर उठा। महाराज ने अपने स्वभावसिद्ध उच्च कण्ठ तथा ओजस्वी भाषा में 'युगधर्म और जीवसेवा' विषय पर एक संक्षिप्त हृदय-ग्राही व्याख्यान दिया। व्याख्यान का मर्म इस प्रकार है –

"वर्तमान युग में धर्म के विषय में बहुत-से लोगों के मन में तरह-तरह की धारणाएँ देखने को मिलती हैं। कोई समझता है कि आचार ही धर्म है, कोई नियम-निष्ठा को ही धर्म मानता है और कोई-कोई विग्रह-पूजा, व्रत, यज्ञ-अनुष्ठान को ही श्रेष्ठ धर्म समझता है।

"धर्म का अर्थ है – त्याग। त्याग ही धर्म का प्राण है। जिन अनुष्ठानों में त्याग को छोड़कर बाकी सब कुछ है, वह निष्प्राण और धर्म का आडम्बर मात्र है। वर्तमान युग में सच्चे वस्तु से लक्ष्यभ्रष्ट होकर हम लोग केवल छिलका लेकर ही शोरगुल मचाते फिर रहे हैं। जिसके पास जो कुछ है, उसी का उचित अधिकारी को, निष्काम भाव से आनन्दपूर्वक दान ही त्याग है। त्याग ही धर्म है। धर्म का अर्थ ही है – त्याग।

"एक ओर से देखें तो सामान्यत: शालिग्राम-शिला की जो पूजा होती है, उसकी अपेक्षा एक रोगी की सेवा में कहीं अधिक धर्म है। शालिग्राम-शिला बोलती नहीं। उनका भक्त अपनी सुविधानुसार किसी दिन भोर में, तो किसी दिन शाम को तीन-चार बजे एक तुलसीपत्र देकर सोचता है कि विग्रहसेवा हो गयी। अपना सांसारिक कर्म, लौकिकता, मुकदमा आदि – सब चलाते हुए उनकी पूजा करने से ही क्या धर्म हो जाता है? इस पूजा में कोई त्याग नहीं है। परन्तु रोगी की सेवा में इससे बहुत अधिक त्याग स्वीकार करने की आवश्यकता होती है। रोगी की सेवा में प्रतिक्षण रोगी की सुख-सुविधा का ध्यान रखना पड़ता है। सेवक को अपने आराम, विश्राम और तुनकमिजाजी तक को तिलांजलि देकर रोगी की सेवा में लगना पड़ता है। इसमें कितने त्याग-तितिक्षा, कितने धैर्य तथा सहनशीलता की आवश्यकता होती है ! यह क्या सहज बात है? इसके बाद रोगी की नारायण-ज्ञान से सेवा करना तो

और भी बड़ा ऊँचा भाव है। शिवज्ञान से जीव की सेवा अति उच्च कोटि का धर्म है। 'यत्र जीव: तत्र शिव:' – इस भाव के साथ सेवा करना जीवन्त भगवत्सेवा के समान है।

"सेवा भी क्या एक ही प्रकार की होती है। जीवसेवा असंख्य प्रकार की हो सकती है – भूखे को अन्नदान, निरक्षर को शिक्षादान, रोगी को स्वास्थ्य और अज्ञानी को ज्ञान का दान भी सेवा है। विश्वविश्रुत स्वामी विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण के मुख से 'शिवज्ञान से जीवसेवा' की बात सुनकर बड़े आश्चर्यचकित हो गये थे। उन्होंने अपनी असामान्य अलौकिक आध्यात्मिकता की सहायता से, सेवा को ही 'वर्तमान युग के धर्म' के रूप में निर्धारित किया था। इसीलिए वे अपने पुण्य पवित्र जीवन द्वारा दिखा गये कि जीवसेवा ही धर्म है।"

इसी प्रकार आधे घण्टे तक धर्म तथा सेवा के विषय में अपने व्याख्यान के द्वारा श्रोताओं को मुग्ध करने के बाद बाबूराम महाराज अपना वक्तव्य समाप्त करने ही जा रहे थे, तभी पीछे से कोई-कोई कह उठा, "महाराज, हम लोग थोड़ी 'प्रेम-भक्ति' की बातें सुनने आये थे।"

पहले तो महाराज ने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया। पर जब एक जन बारम्बार यही बात कहने लगे, तो महाराज ने उत्तेजित होकर उनकी ओर देखा और सिंह के समान गर्जन करते हुए पूछा, "कौन सुनेगा और किसे कहूँगा प्रेमभक्ति की बातें? प्रेमभक्ति की बातें सुनने का अधिकारी यहाँ है कौन?"

सभी अवाक् रह गये, बहुत-से लोग विस्मय में आकर स्तब्ध रह गये।

थोड़ी देर बाद प्रश्नकर्ताओं में से एक ने पूछा – "महाराज, क्या आप ऐसा समझते हैं कि इन हजारों लोगों में एक भी प्रेमभक्ति की बातें सुनने का अधिकारी नहीं है?"

बाबूराम महाराज – "इतना भी न समझ सकूँ, तो इतने दिनों से साधु किसलिए हुआ हूँ! मैं चेहरा देखकर ही सब कुछ समझ लेता हूँ। आप सुनना ही चाहते हैं? तो सुनिये –

"एक फेरीवाला पसारीपाड़ा में घूमते हुए हाँक लगा रहा था, 'प्रेम लोगे, प्रेम? प्रेम लोगे, प्रेम?' रास्ते के दोनों ओर के सभी घरों के स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढ़े बाहर निकल आये और बोले, 'हाँ, हाँ, लेंगे, जरूर लेंगे। क्या कीमत है?' फेरीवाले ने कहा, 'प्रेम की भला क्या कीमत हो सकती है? यह कीमत देकर नहीं मिलती है, यह अनमोल वस्तु है। तो भी कीमत बता सकता हूँ – इसकी कीमत है 'सिर'। कोई अपना सिर दे सकता है?'

"कीमत की बात सुनकर सभी बगलें झाकने लगे और अपने-अपने द्वार बन्द करके घर के भीतर घुस गये। इसीलिए कह रहा था कि प्रेमभक्ति की बातें सुनना चाहते हैं, तो बड़ी अच्छी बात है। परन्तु आप में से कोई अपना सिर दे सकता है? कौन दे सकेगा, बोलिए? कोई दे सकेगा अपना प्राण?"

इस पर सभी चुप रह गये। महाराज द्वारा ओजस्वी भाषा में अपने हृदय का भाव व्यक्त करने पर सभी लोग स्तम्भित होकर उनके उद्दीप्त रक्तिम मुखमण्डल की ओर ताकते रह गये। महाराज सहज अवस्था में आकर बोले, "प्रेमभक्ति सहज बात नहीं है। इस युग में भुवनविख्यात स्वामी विवेकानन्द जो कह गये हैं – शिवज्ञान से जीवसेवा – यही धर्म है।"

व्याख्यान समाप्त करके महाराज ने आसन ग्रहण किया। सभापति गोसाईंजी ने उनके प्रति अशेष धन्यवाद तथा कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए सभा को विसर्जित कर दिया। ❖ **(क्रमश:)** ❖

**पृष्ठ २१९ का शेषांश**

सांसारिक सुखों से उदासीन और आध्यात्मिक उपलब्धियों के प्रति आकुल सुरेश ने स्वयं को एक वैसे ही आदर्श गृहस्थ के रूप में गढ़ लिया था, जैसा कि श्रीरामकृष्ण चाहते थे। उनके जीवन में सहसा कोई ऐसी मानसिक क्रान्ति नहीं आयी, जिसके फलस्वरूप मनुष्य सदा के लिए बदल जाता है; बल्कि उनका जीवन एक क्रमबद्ध अन्तर्दृष्टियों का जीवन था, जहाँ हर अन्तर्दृष्टि उन्हें एक निर्णय लेने या विशेष कर्म करने के लिए बाध्य कर देती थी। उनके जीवन में अन्तरात्मा की आवाज को क्रियान्वित करने का संकल्प ही अधिक था। तीन दशकों के दौरान उनके जीवन का आमूल परिवर्तन हो गया। उनके विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने भावुक होकर अपने एक प्रमुख शिष्य शरत्चन्द्र चक्रवर्ती से कहा था, "देखो न, ठाकुर ने जिस किसी का स्पर्श किया है, वह स्वर्ण हो गया है।"[२७]

जिस दिन से श्रीरामकृष्ण ने उनके हृदय को छुआ था, उस दिन से १८ नवम्बर १९१२ को अपने देहावसान तक सुरेश अपनी आध्यात्मिक यात्रा में अपने परिवार द्वारा मानो अकेले ही चलने को बाध्य कर दिये गये थे। श्रीरामकृष्ण में दृढ़ विश्वास तथा अडिग भक्ति रखनेवाला एक निष्ठावान् और दृढ़निश्चयी साधक गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी कैसी आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ पा सकता है, सुरेश इसके जीवन्त उदाहरण बन गये थे। इससे भी अधिक, उनका जीवन दुखी और पीड़ित संसार के कल्याण में लगकर लोगों के लिए वरदानस्वरूप बन गया था।

यदि भक्त सुरेशचन्द्र दत्त हमारे लिए कोई सन्देश छोड़कर गये हों, तो शायद वह यही होगा – बस, एकमात्र ईश्वर की शरण लो, शान्त रहो और उनके प्रति सच्चे बने रहो। अपने तथा अपने आदर्श के प्रति निष्ठावान रहो; जीवन में आनेवाली सारी समस्याएँ अपने आप सुलझ जाएँगी। ❑❑❑

**२७.** श्रीरामकृष्ण भक्तमालिका, भाग २, पृ. २९९

# मातृ-वन्दना

*रासबिहारी गोस्वामी*

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

परम आराध्या माँ के प्रथम दर्शन का सुयोग मुझे बागबाजार में प्राप्त हुआ था। तब मैं कलकत्ते में रहता और संस्कृत कॉलेज में पढ़ता था। मेरे मित्र प्रभाकर मुखोपाध्याय भी उस समय कलकत्ता में डॉक्टरी पढ़ रहे थे। सर्वप्रथम मैंने उन्हीं से ठाकुर और माँ की बात सुनी। उनके साथ ही बागबाजार में माँ के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मिला। दूसरी बार १९१८ ई. में जयरामबाटी में उनके दर्शन का सुयोग मिला और उस समय भी मेरे ये डॉक्टर मित्र ही संगी, सहयोगी तथा मार्गदर्शक थे। उस दर्शन के साथ एक विशेष घटना जुड़ी है और उसे मैं अपने जीवन में ठाकुर तथा माँ की विशेष कृपा मानता हूँ।

दुर्गापूजा के दिन थे। नवरात्र में मैं प्राय: कहीं बाहर नहीं रहता, जाने की इच्छा भी नहीं होती। पूजा के दिनों में सुबह से गाँव के दुर्गा-मण्डप में देवी-माहात्म्य के पाठ में लगा जाता था। पूरे गाँव का आग्रह था और मैं स्वयं भी इस कार्य में बड़े आनन्द का बोध करता। उस वर्ष भी यथारीति पूजा के षष्ठी तथा सप्तमी के दिन मैंने पूजा-मण्डप में सप्तशती का पाठ किया। सप्तमी को मैं पूजा-मण्डप में खूब व्यस्त रहता। पूजा समाप्त होने के बाद घर लौटता। उस रात मैंने एक विचित्र सपना देखा। देखा – गाँव की देवी-प्रतिमा के सन्धि-क्षण की पूजा के समय मैं पुरोहित के आसन पर बैठकर देवी -वन्दना कर रहा हूँ। पूजा के बाद मैं देवी की आरती करने को उठा। एक-एक कर सारे उपचारों से देवी की आरती की। आरती करते समय मेरे पूरे शरीर में मानो विद्युत प्रवाहित हो रहा था। अन्त में मैंने चामर से आरती की। जब मैं चामर से व्यजन कर रहा था, तभी सहसा कानों में कुछ सुनायी पड़ा, मानो दर्शकों में से कोई कह कहा था, "ओ पण्डितजी, आपने देवी का वस्त्र से तो आरती किया नहीं? यह कैसी बात?" मैं भय से संकुचित हो गया। सोचा – यह कैसा भ्रम हो गया है। मैं याद नहीं कर सका कि मैंने वस्त्र से आरती किया है या नहीं। मैं बेचैन होकर छटपटाने लगा। तभी नींद खुल गयी। उस रात फिर सो नहीं सका। मन-ही-मन सोचा – चण्डीपाठ में कोई त्रुटि हो गयी है क्या? नहीं तो ऐसा स्वप्न क्यों देखता? तभी मुझे अपने मित्र प्रभाकर की याद आ गयी। कई दिन पूर्व बातचीत के दौरान उसने कहा था कि वह माँ का दर्शन करने जयरामबाटी गया था। उसने यह भी बताया था कि स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण माँ इस बार कलकत्ते नहीं गयी हैं। पूजा के दौरान जयरामबाटी में ही हैं। मुझे लगा कि कल शुभ सन्धिक्षण की महापूजा है और इस विशेष मुहुर्त में यदि मैं माँ का दर्शन तथा उन्हें प्रणाम निवेदन करूँ, तो यदि अनजाने में यदि कोई त्रुटि हुई होगी, तो वह क्षमा हो जायेगी। सन्धिपूजा में मृण्मयी मूर्ति की अपेक्षा चिन्मयी मूर्ति का दर्शन ही श्रेष्ठ प्रतीत होने लगा।

सुबह उठते ही मैं आरामबाग की ओर चला। हमारा घर आरामबाग के पास ही है। वहाँ प्रभाकर से मिलकर उसे स्वप्न की बात कही और मातृदर्शन की अपनी आकांक्षा भी बतायी। वह तुरन्त तैयार हो गया। कुछ देर बाद मैं आरामबाग से ही माँ के लिए एक लाल किनारी की साड़ी, कुछ फल तथा मिठाइयाँ खरीदकर प्रभाकर के पास लौटा। हम दोनों झुमझुमि (द्वारकेश्वर) नदी पारकर कालीपुर आये और एक किराये की बैलगाड़ी में जयरामबाटी की ओर चल पड़े। दोपहर के डेढ़ बजे हम जयरामबाटी पहुँचे। वहाँ सबसे पहले हमारी वरदा महाराज (स्वामी ईशानानन्द) से भेंट हुई। वे प्रभाकर से खूब परिचित थे। मेरे हाथ में नयी साड़ी, फल, मिठाइयाँ देखकर वे बड़े खुश हुए और बोले, "भाई, तुमने अच्छा ही किया है। आज बड़ा अच्छा दिन है। शुभ क्षण में आये हो! सन्धिपूजा में जीवन्त महामाया की पूजा करोगे।" यह कहकर वे हमसे वस्त्र, फल आदि लेकर रख आये। लौटकर बोले, "थोड़ा धैर्य रखो! सन्धिपूजा में थोड़ी देर है। हम लोग ठीक समय पर माँ की चरणवन्दना करेंगे।"

वरदा महाराज की बात पर मैं आनन्द से रोमांचित हो उठा। बाद में महाराज से पता चला कि जयरामबाटी में तब तक कोई दुर्गापूजा नहीं होती है; जिवटा, शिहड़, कामारपुकुर, आनूड़, कोतुलपुर आदि में होती है। उस वर्ष जयरामबाटी में माँ की सेवा में लगे साधुओं की इच्छा थी कि दुर्गापूजा के दिन माँ की देवीभाव से पूजा करें। किशोरी महाराज (स्वामी परमेश्वरानन्द) ने मना कर दिया था, क्योंकि माँ का स्वास्थ्य तब ठीक नहीं चल रहा था। सबके अनुरोध पर उन्होंने सन्धि

-पूजा के क्षण में माँ के चरणों में कमल-पुष्पों के साथ प्रणाम करने की बात मान ली थी। वरदा महाराज की बड़ी इच्छा थी कि सन्धिपूजा के समय विभिन्न उपचारों से माँ की पूजा करूँ और तदनुसार उन्होंने पूजा की सारी व्यवस्था कर ली थी। परन्तु इस विषय में उन्होंने माँ को कुछ भी नहीं बताया था।

उस वर्ष सन्धि का क्षण शाम के ३ बजे था। सेवकगण सुयोग देख रहे कि माँ कब एकान्त में मिलें। आयोजन पूरा हो चुका था। दोपहर-भर वे लोग लाल और श्वेत कमल ला-लाकर एकत्र करते रहे। कामारपुकुर से माँ के पसन्द की मिठाई भी मँगा ली गयी थी। चन्दन, बिल्वपत्र आदि सब की व्यवस्था हो चुकी थी। महाराज आम के पल्लव तथा कलश भी ले आये थे। केवल एक नयी साड़ी नहीं थी। जिन्हें लाने का कार्य सौपा गया था, वे अब भी नहीं लौटे थे। वस्त्र के समय पर न पहुँचने से वे बड़े चिन्तित थे। इसीलिये हमारे आने और हाथ में नयी साड़ी देखकर वे बड़े ही खुश हुए।

अस्तु, सारी बात जानकर मैंने सोचा कि माँ ही कृपा करके मुझे इस शुभ मुहुर्त में अपने पास खींच लायी हैं। वह मुहुर्त भी आ गया। माँ के सेवक तथा हम लोग मिलाकर ७-८ जन रहे होंगे। माँ अपने कमरे में चौकी पर पैर लटकाये बैठी थीं। सबसे पहले वरदा महाराज फूल की टोकरी लेकर कमरे में घुसे; उनके पीछे किशोरी महाराज तथा अन्य लोग। सबसे अन्त में मैं गया। वरदा महाराज माँ के सामने दो थालियों में फूल, चन्दन, बेलपत्र, वस्त्र, फल तथा मिष्ठान्न सजा दिये। एक ब्रह्मचारी ने प्रदीप तथा अगरबत्ती जलायी। मैं मंत्रमुग्ध के समान सब देखता रहा। माँ का वह कक्ष क्षण भर में ही पूजा-मण्डप में परिणत हो गया और उनकी चौकी ही देवी की पूजावेदी हो उठी। वहाँ बैठी थी साक्षात् जगज्जननी महामाया! नैवेद्य के थाल में अपनी ही लाई हुई साड़ी देख कर मैंने स्वयं को कृतार्थ बोध किया। इसके बाद वरदा महाराज ने किशोरी महाराज से अनुरोध किया कि माँ को पुष्पांजलि देना शुरू करें। लाल कमलों से पुष्पांजलि शुरू हुई। एक-एक कर हम सभी ने माँ के चरणों में पुष्पांजलि देकर प्रणाम किया। माँ ने सहास्य मुँख से हमारी पुष्पांजलि ग्रहण करके हमें आशीर्वाद दिया। उस समय मैंने उनकी जो श्रीमूर्ति देखी, वह कभी विस्मृत नहीं हो सकती। तब माँ मानवी नहीं लग रही थीं, बल्कि लगता था मानो साक्षात् देवी महामाया ही भावविभोर होकर बैठी हुई हों। उनके महाभाव का दर्शन करके मैंने धन्यता का अनुभव किया। लगा – अनेक जन्मों के पुण्यों के फलस्वरूप इस दृश्य के अवलोकन का सुयोग मिला है। माँ के महाभाव के उस स्मरणीय मुहुर्त में सभी सेवकों तथा भक्तों ने देवी-वन्दना शुरू की।

स्तव और प्रणाम पूरा हो जाने पर जगदम्बा ने नेत्र खोले और बोल उठीं, "और भी फूल ले आओ, राखाल, तारक, शरत्, खोका, हरिप्रसन्न, गंगाधर, काली, मास्टर महाशय, योगेन, गोलाप – इनके नाम से फूल दो। मेरे जाने-अनजाने सभी सन्तान, जो जहाँ भी हों, उनके नाम से फूल दो।"

तब वरदा महाराज दोनों हाथों की अंजलि से माँ के श्री चरणों में पुष्पांजलि देने लगे। वे हाथ जोड़कर ठाकुर की तरफ देखते हुए बोलीं, "ठाकुर, सभी का इहकाल और परकाल में मंगल हो। तुम सबको देखना! उस दिन की स्मृति और माँ की वह मूर्ति आज भी मेरे मन में स्पष्ट झलक उठती है। उनकी बातें आज भी मेरे कानों में गूंजती हैं।

## मातृ-सान्निध्य की स्मृतियाँ

***मेनका मुखोपाध्याय***

मेरे वंश में कुलगुरु थे। मेरे पति ने कुलगुरु से ही दीक्षा ली थी, परन्तु मेरे देवर (फणीन्द्रनाथ), मेरी भाभी (सुहासिनी) और मैं – माँ से दीक्षित थे। मेरे देवर के एक मित्र (पुंडरीक बसु) भी माँ के कृपाप्राप्त थे। उन दिनों हम लोग मुर्शिदाबाद जिले के बरहमपुर नगर में रहते थे। कुलगुरु से दीक्षित होते हुए भी मेरे पति की ठाकुर और माँ के प्रति अगाध श्रद्धा थी। वे प्रतिदिन रात को सारे दरवाजों में ताला लगाकर – ठाकुर रक्षा करो – कहकर सो जाते। हमारे घर की यह रोज की चर्या हो गयी थी। बीच-बीच में मैं बागबाजार में माँ के घर उनके पास जाती। प्राय: दोपहर में ही जाती। मेरे साथ कभी मेरी बड़ी पुत्री (साधना) रहती, तो कभी मेरा छोटा पुत्र (गुरुप्रसाद)। एक दिन मैं थोड़ी मिठाइयाँ लेकर माँ के पास गयी। उस दिन मैं जरा जल्दी पहुँच गयी थी। हम लोग जब 'माँ के घर' पहुँचे, तो देखा कि माँ बेलूड़ मठ जाने के लिए तैयार हैं। मैं माँ को प्रणाम करने के बाद बोली, "माँ, अभी तो आप बेलूड़ मठ जा रही हैं, तो फिर मेरी इन मिठाइयों को प्रसाद कर जाइये।" माँ ने हँसते हुए मिठाई का डिब्बा खोला और जिह्वा से एक मिठाई का स्पर्श करके डिब्बा मेरे हाथ में दे दिया। उस दिन मेरी बड़ी बेटी मेरे पास ही खड़ी थी। माँ के चले जाने पर उसने कहा, "देखा तुमने, माँ की जीभ मुझे तो माँ काली की जीभ जैसी लगी।"

एक अन्य दिन मैं 'माँ के घर' गयी, उस दिन साथ में छोटा पुत्र था। उस समय उसकी उम्र सात-आठ वर्ष रही होगी। मैं माँ से बातें कर रही थी और बेटा पास ही खेल रहा था। तब तक सबका दोपहर का प्रसाद पाना हो चुका था। माँ जमीन पर पैर फैलाकर बैठी थीं। उस समय क्या बातें हो रही थीं, यह तो आज याद नहीं, पर मेरे पुत्र के बड़े हो जाने पर भी उसे कहते सुना है कि उसकी स्मृति में माँ की यह पैर

**(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)**

# प्रेरक कथाएँ

*स्वामी जपानन्द*

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा चार पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा', 'काठियावाड़ की कथाएँ' तथा महाभारत की कुछ कथाओं का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। प्रथम तीन का नागपुर मठ से ग्रन्थाकार प्रकाशन भी हो चुका है। उनके 'भक्तितत्त्व' ग्रन्थ से कुछ रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का सम्पादित रूप क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

## ५. लाला भगत

लाला भगत का नाम काठियावाड़ और सारे गुजरात में प्रसिद्ध है। काठियावाड़ के एक कोने में बसा सायला नाम का गाँव, इनके सुदीर्घ काल तक रहने से पवित्र तथा धन्य हुआ है और अब भी भगत का गाँव नाम से जाना जाता है।

इस महात्मा का जन्म संवत् १८५६ की चैत्र सुदी नवमी अर्थात् रामनवमी के पवित्र दिन बांकानेर रियासत के सिंधावदर नामक गाँव में हुआ था। ऐसे मांगलिक दिन जन्म लेनेवाला महापुरुष भक्त श्रेष्ठ हनुमान जैसा ही तीव्र वैराग्यवान और अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रतधारी तथा भगवान श्रीरामचन्द्र में अनन्य श्रद्धावान और भक्तिमान हो, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात !

इनके पिता का नाम बुटोशा और माता का नाम वीरूबाई था। जाति के वे श्रीमाली वणिक् थे।

अन्य भक्तों की तरह बचपन से ही इनका मन भी प्रभुसेवा में तल्लीन रहता था। इनका खेलना-कूदना भी ऐसे ही होता था। वे प्रभु की मूर्ति को पधराकर, अपने पास जो कुछ खाने को होता उसका भोग देकर, आरती उतारकर, भक्तिभाव में तल्लीन होकर घण्टों भावमग्न बैठे रहते। ऐसी स्थिति में इनकी आँखों से अविरत अश्रुप्रवाह बहा करता, जिसको देखकर इनके माता-पिता आश्चर्यमुग्ध हो जाते।

उचित आयु हो जाने पर पिता ने इन्हें पढ़ने के लिये गाँव की पाठशाला में भेजा, जहाँ इन्होंने साधारण लिखना-पढ़ना तथा व्यापार के काम योग्य हिसाब-किताब सीखा।

समय के साथ-साथ भक्त बालक युवा हो गये। पर उनकी भजन-कीर्तन की धुन तो यथावत बनी रही। अब उनके माता -पिता को भय लगा कि पुत्र कदाचित् संसार में न रहकर केवल प्रभु-परायण जीवन में ही न डूब जाय। इस भय के कारण वे उनको सांसारिक बन्धनों में जकड़ लेने का प्रयत्न करने लगे। उनके पिता ने उन्हें अपने धन्धे से जोड़कर और स्त्री-रूपी जंजीर से जकड़कर उन्हें संसार में डुबाने का प्रयास किया। भक्त लालाजी ने विवाह करने से तो बिल्कुल ही मना कर दिया, पर दुकान में कामकाज करने लगे। पिताजी जब-जब उनकी व्यवहारिक अकुशलता के लिए उन्हें बुरा-भुला कहते, तब-तब वे नाराज न होकर, नम्रतापूर्वक पिता को प्रभु में अटल श्रद्धा, सांसारिक विषयों की असारता आदि के उपदेश देते और माया की दलाली छोड़ने का परामर्श देते।

**कविता**

**तातकूँ कहत लाल, सुनो मेरी बात यह,**
**सन्तन की सेवा – यह तो, मेरे मन भाई है;**
**काहे को दलाली, इस माया की पकड़ लई,**
**मोहे तो दलाली, चित्त लालन के पाई है;**
**सन्त मेरे मात-तात, भ्रात कुल नात-जात,**
**सन्तन की सेवा, ही तो श्रीमुख से सुनाई है,**
**कहत गोपाल लाल, तातकूँ कहत ऐसे,**
**सन्तन की सेवा बिन, कौन गति पाई हैं !!**

लाला भगत बांकानेर जाने लगे, तब उन्होंने श्री रघुनाथजी के मन्दिर के साधु सेवादासजी से आध्यात्मिक ज्ञान का उपेदश लिया और खुले तौर से जैन सम्प्रदाय को छोड़कर रामानन्दी सम्प्रदाय की दीक्षा ली।

पिता तो हमेशा ही उन पर नाराज रहते थे, अब इस नये बनाव से वे और अधिक नाराज हुए। पिता की कड़वी वाणी सुनकर उन्होंने कह दिया, "यदि आप प्रभुभक्ति को भूलाकर मुझे प्रपंच में पड़ने को कहेंगे, अथवा मेरे इष्टदेव की निन्दा करेंगे, तो मैं घर छोड़कर चला जाऊँगा।"

ऐसे महात्मा को कपड़े की दुकान बैठकर लेनदेन करना कैसे आवे? जिनका मन प्रभु में ही मस्त रहता हो, वे नफे-नुकसान का हिसाब कैसे समझें? किसी दुखी गरीब के आते ही वे दूसरे सब काम छोड़कर उसकी सेवा में लग जाते।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

फैलाये बैठी हुई श्रीमूर्ति आज भी बिल्कुल स्पष्ट है। माँ कौन हैं? माँ क्या हैं? यह जानने समझने की क्षमता तो उस समय उसमें थी नहीं; लेकिन जब बड़े हो जाने पर भी माँ की वह पैर फैलाकर बैठी हुई श्रीमूर्ति उसके मानस-पटल पर स्पष्ट है, तो मेरा विश्वास है कि यह आजीवन उसके मन में वैसे ही स्पष्ट बना रहेगा। अब तो मैं भी बहुत-सी बातें भूल गयी हूँ, बाद में और भी भूल जाऊँगी, परन्तु पुत्र के मन में बसी माँ की वह जीवन्त श्रीमूर्ति सर्वदा मेरे भी नेत्रों के समक्ष स्पष्ट रूप से तैरती है। आज भी तैरती है। वही स्नेहभरी हास्यपूर्ण अपूर्व मुख-मण्डल ! यह मुख-मण्डल ही मेरे जीवन का ध्रुवतारा है। यह चिन्मयी मूर्ति ही मेरा परम आश्रय है। यह छवि ही मेरे जीवन का सम्बल है। ❖ (क्रमशः) ❖

दुकान के पैसे, वस्त्र आदि देकर आगन्तुक को सन्तुष्ट करते और सच्ची कमाई की है, ऐसा मानकर पूरा सन्तोष पाते।

कहते हैं कि इन दिनों भक्ताधीन प्रभु ने उनकी अनेकों बार सहायता की। दूसरों के सिखाने से भक्तराज के पिता अनेक बार दुकान आकर माल और बिक्री की जाँच करते, परन्तु उनको कोई भी त्रुटि दिखायी नहीं पड़ती।

धीरे-धीरे भक्त की अनन्य भक्ति की बात आसपास फैलने लगी। बांकानेर के तत्कालीन राजा साहब ने सम्मानपूर्वक उनको बुलवाया और परोपकार के लिए बहुत-सी जमीन भेंट की तथा सिंधावदर में एक मन्दिर भी बनवाया। तब से भक्त लालाजी सारा संसार छोड़कर मन्दिर में ही रहने लगे।

सिंधावदर में मन्दिर बन जाने के बाद वहाँ अनेक साधु-सन्त आने लगे। भगतजी उनका बड़े प्रेम से सत्कार करने लगे। थोड़े समय के बाद उन्होंने सायला में भी एक भव्य मन्दिर बनवाया और तब से वहीं रहने लगे।

उनकी परोपकार-वृत्ति देखकर अनेक लोग उन्हें बहुत-सा धन अर्पित करने लगे। भक्तराज इस धन का उपयोग विभिन्न स्थानों में मन्दिर बनवाने और सदाव्रत चलाने में ही करते। भविष्य में परमार्थ के लिए मिले हुए इस धन का दुरुपयोग न हो, इसके लिए उन्होंने समुचित व्यवस्था की, जिसके फलस्वरूप आज भी करीब ३६० स्थानों पर उनकी ओर से स्थापित किये हुए सदाव्रत-मन्दिर भलीभाँति चल रहे हैं।

उनकी ख्याति सुनकर बड़ौदा के तत्कालीन महाराज साहब ने भी उन्हें आमंत्रित किया था और राज्य की तरफ से डंका, निशान, छड़ी आदि मानसूचक चिह्न अर्पण किए थे।

## ६. महात्मा आविसकरणी

महात्मा आविस – 'करण' नामक देश में निवास करते थे, इसीलिये उनका नाम आविसकरणी पड़ा था। उन्हें एकान्त-वास बड़ा प्रिय था, अतः वे लोगों की भीड़भाड़ से दूर निर्जन स्थान में रहते थे। उनके कुटुम्बीजनों में सिर्फ एक उनकी माताजी जीवित थीं और वे आँखों से अन्धी थीं।

आविसकरणी ऊँट चराने का धन्धा करके अपना तथा माता का भरण-पोषण करते थे। उनकी पैगम्बर हजरत मोहम्मद साहब के साथ भेंट नहीं हुई थी, पर दोनों के बीच समानता होने से उनकी आपस में बड़ी प्रीति थी।

जब पैगम्बर साहब के परलोक जाने का समय आया, तब शिष्यों ने उनसे पूछा, "आपके पवित्र वैराग्य-वस्त्रों का अधिकारी कौन होगा?" पैगम्बर साहब ने ये वस्त्र आविसकरणी को देने के लिए कहा।

हजरत मोहम्मद साहब के परलोक-गमन के बाद उम्मर और अली आविसकरणी को ढूँढने निकले। कुफा शहर में जाकर, नमाज के वक्त उन्होंने लोगों से पूछा, "तुममें से कोई करण का रहने वाला है? यदि कोई हो, तो क्या महात्मा आविसकरणी के विषय में कुछ जानता है?"

उनमें एक-दो ने उत्तर दिया, "हाँ, हम करण के रहने वाले हैं। हम सब उसकी पागलों में गिनती करते हैं। वह सरणा के जंगल में ऊँट चराता होगा।"

यह सुनकर उम्मर और अली वहाँ से निकल पड़े और सरणा के जंगल में पहुँचे। वहाँ जाकर उन लोगों ने देखा – आविस नमाज पढ़ रहे थे। नमाज पूरी होने के बाद उन्होंने दोनों महात्माओं को नमस्कार किया। उत्तर में उम्मर और अली ने भी उन्हें नमस्कार करके उनका नाम पूछा। उन्होंने कहा, "मेरा नाम अब्दुल्ला यानी परमात्मा का गुलाम है।"

उम्मर ने कहा, "अपना यथार्थ नाम बताओ, क्योंकि परमेश्वर के गुलाम तो हम सब ही हैं।"

तब उन्होंने बताया, "मेरा नाम आविस है।"

उम्मर ने कहा, "ओह, तो आप कृपा करके अपना दाहिना हाथ दिखाएँगे?" उनका हाथ देखा गया, तो उस पर पैगम्बर साहब के कहे अनुसार सारे चिह्न दिखाई दिए। उम्मर ने तब तुरन्त ही उस हाथ को चूमकर कहा, "महात्मा! पैगम्बर मोहम्मद साहब ने आपको सलाम कहलवाया है और अपने वैराग्य-वस्त्र आपको भिजवाये हैं। साथ ही अपने सम्प्रदाय को आशीर्वाद देने के लिए आपसे आग्रह किया है।"

आविस ने उत्तर दिया, "आशीर्वाद देने का अधिकार तो आपको ही है।" पर उम्मर ने जब उनको पैगम्बर साहब का मान रखने के लिए आशीर्वाद देने को कहा, तो उन्होंने कहा, "भाई उम्मर! मुझे तो ऐसा लगता है कि वह आविस कोई दूसरा होना चाहिए।

उम्मर ने कहा, "पैगम्बर साहब ने जिन-जिन चिन्हों की बात की थी, वे सब तुम्हारे शरीर पर हैं, इसलिए तुम्हीं वह आविस हो।" महात्मा ने उम्मर को वस्त्र दिखाने के लिए कहा। इस पर उम्मर ने वह वस्त्र उन्हें दे दिया। वस्त्र देखकर आविस ने प्रार्थना की, "खुदा! जब तक तमाम इस्लामी बिरादर से वस्त्र मुझे न मिले, तब तक मैं इन्हें कैसे काम में ला सकता हूँ? उम्मर और अली ने तो अपना फर्ज अदा किया है, पर हे परवरदिगार! आप अपनी आज्ञा फरमाओ।"

थोड़ी देर बातचीत के बाद उम्मर ने पूछा, "महात्मा आविस! आपने कभी पैगम्बर साहब के दर्शन क्यों नहीं किए?" आविस ने उलटे पूछा, "क्या आपने उनके दर्शन किए हैं?" उम्मर के "हाँ" कहने पर आविस बोले, "मुझे तो ऐसा लगता है कि आपने उनके पहने हुए वस्त्रों के ही दर्शन किये होंगे। बताओ देखें – उनकी भौहें जुड़ी हुई थीं या अलग-अलग?" उम्मर ठीक-ठीक उत्तर न दे सका। इसके बाद आविस ने कहा, "मैंने सुना है कि आप हजरत साहब के परम मित्र थे।" उम्मर के हामी भरने पर आविस ने पूछा,

"आप उनके मित्र थे, तो जिस दिन शत्रु ने पैगम्बर साहब के दाँत तोड़ दिए थे, उस दिन आपने भी अपने दाँत क्यों नहीं तोड़ डाले?" इतना कहकर आविस ने अपना मुँह खोला, तो उम्मर ने देखा उसके अन्दर के सब दाँत गिरे हुए थे।

फिर वे बोले, "वह बात सच है कि मैंने पैगम्बर साहब का दर्शन नहीं किया, पर जब मैंने सुना, कि शत्रु ने पैगम्बर साहब के दाँत तोड़ दिये हैं, तब मैंने अपने सभी दाँत एक-एक करके उखाड़ दिए।" यह बात सुनकर उम्मर को विश्वास हुआ, कि आविस प्रभु के सच्चे भक्त और पैगम्बर साहब के सच्चे मित्र हैं।

उम्मर ने कहा, "आविस! आप हमारे लिये खुदा की बन्दगी करो।" आविस ने उत्तर दिया, "विश्वास और प्रेम भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। अकेला विश्वास कोई प्रेम नहीं है, तो भी मैं हरेक नमाज के समय प्रभु से माँगता हूँ कि ओ खुदा! विश्वासी स्त्री-पुरुषों के गुनाह माफ करना।"

उम्मर के कुछ उपदेश सुनने की इच्छा प्रकट करने पर आविस ने कहा, "उम्मर! प्रभु को तो पहचानते हो न?"

उम्मर ने जवाब दिया, "हाँ।"

आविस ने कहा, "तो फिर अब तुम दूसरा कुछ न जानो, तो भी कोई नुकसान नहीं।"

उम्मर के और उपदेश की माँग करने पर महात्मा आविस ने कहा, "उम्मर! ईश्वर तुमको पहचानता है?" उम्मर के हामी भरने पर आविस ने कहा, "तब तुमको दूसरा कोई न जाने तो चिन्ता की कोई बात नहीं।"

उम्मर कुछ भेंट करने की इच्छा से अपनी गठरी खोलने लगा, तब आविस उसे रोककर बोले, "यह कष्ट न करें। मेरे पास दो पैसे हैं, जो मुझे ऊँट चराने से मिले हैं। जब तक ये खर्च नहीं नहीं होंगे, तब तक मुझे ज्यादा की जरूरत नहीं।"

यहाँ आने में तकलीफ उठाई, इसके लिए वे उम्मर का आभार मानकर बोले, "उम्मर, अब वापस पधारो; कयामत के दिन हम फिर निश्चिन्त होकर मिलेंगे। अभी तो परलोक के लिये कुछ करने को कमर कसनी चाहिए।"

इतना कहकर उन्होंने इन दोनों को विदा किया।

इस प्रसंग के बाद हरमान के पुत्र हयान के सिवाय और किसी ने उनको देखा नहीं था। हयान कहता है, 'इन महात्मा् की हकीकत सुनने के बाद मैं उनसे मिलने के लिए अति व्याकुल हो गया और बहुत तलाश के बाद एक दिन मैंने उन्हें कुरात नदी में हाथ-मुँह धोते देखा। उनका गरीबी देखकर मेरा मन पिघल गया और आँखों में आँसू भर आए। मुझे देखकर आविस भी रोकर कहने लगे, "ओ हयान! खुदा तुम्हें चिरंजीवी करे। तुम्हें मेरा पता किसने दिया?"

मैंने कहा, "आपने मुझे किस तरह पहचान लिया? मैं तो इसके पहले आपसे कभी नहीं मिला।"

उन्होंने उत्तर दिया, "जिससे कुछ भी अनजाना नहीं, उस खुदा ने ही मुझे तुम्हारी पहचान बताई है, आत्मा ने आत्मा को पहचाना है।"

मैंने कहा, "मुझे हजरत मोहम्मद पैगम्बर साहब की हकीकत सुनाओ और कुछ उपदेश दो।"

उन्होंने कहा, "हजरत साहब से मिलने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। मैंने तो सिर्फ दूसरों के मुँह से उनके विषय में बातें सुनी हैं। फिर मैंने कभी उपदेशक बनने की इच्छा ही नहीं की, इसलिए तुम्हें मैं क्या उपदेश दूँ?"

मैंने कहा, "खुदा की वाणी ही सुनाओ, आपके मुँह से सुनने से मुझे अपार लाभ होगा।"

उन्होंने कहा, "शैतान को छोड़कर खुदा का आसरा लो।" इतना कहते-कहते उनकी आँखों में से आँसू की धार बह चली। फिर वे बोले, "खुदा कहते हैं कि मनुष्य जाति तथा देव आदि को मैंने अपनी उपासना करने के लिये ही पैदा किया है, यह सब केवल विनोद के लिये नहीं रचा है।"

इतना कहते-कहते वे, "हे परवरदिगार! हे अल्लाह!" – कहकर बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़े।

थोड़ी देर में स्वस्थ होकर उन्होंने पूछा, "हयान! तू यहाँ क्यों आया है?" मैंने कहा, "आपका स्नेह पाकर सुखी होने की आशा से आपके पास आया हूँ।"

आविस बोले, "मैं कोई बड़ा आदमी नहीं हूँ, फिर जो मनुष्य ईश्वर को छोड़कर दूसरे के साथ स्नेह जोड़ने की इच्छा करता है, वह क्या कभी सुखी हो सकता है?"

तब मैंने कहा, "मुझे कुछ उपदेश तो दो।"

आविस बोले, "जब सोओ, तब मौत को सिर पर बैठा समझो और जागो, तब मौत को सामने खड़ी समझो। छोटे-से-छोटा अपराध करते हुए भी ईश्वर से डरो, यदि पाप को तुच्छ मानोगे तो प्रभु को भी तुच्छ मानोगे।"

मैंने पूछा, "अब मुझे किस देश में रहना चाहिए?" उन्होंने मुझे शाम देश में रहने को कहा। इस पर मैंने पूछा, "वहाँ मेरा निर्वाह किस तरह चलेगा?"

वे बोले, "जिसके हृदय में पेट भरने की प्रबल चिन्ता होती है, वह मनुष्य ईश्वर के मार्ग का उपदेश ग्रहण नहीं कर सकता। ऐसे मनुष्य के लिये दुःख ही रखा है। हे हरमान पुत्र! तेरा पिता गुजर गया है, आदम वगैरह बड़े-बड़े पुरुष यह लोक छोड़ गए हैं, हजरत मोहम्मद साहब भी थोड़े समय पहले ही गए हैं। भाई! हम सब ही मरने को हैं, इसलिए बहुत ही सँभलकर पाँव रखना।"

फिर वे मुझे आशीर्वाद देकर बोले, "भाई! तू ईश्वर के ग्रन्थ की आज्ञा मानना और साधु पुरुषों के आचरण किए हुए

मार्ग पर चलना। मौत को एक पल के लिये भी मत भूलना। दूसरों को भी यही उपदेश देना। इतना कहकर वे मुझसे विदा लेकर चले गए और फिर मुझे उनकी कुछ खबर नहीं मिली।''

रबिया उनके बारे में कहती है, ''एक दिन मैंने आविस को नमाज पढ़ते देखा। नमाज पढ़ने के बाद तुरन्त ही वे खुदा के नाम का जप करने लगे और इस तरह उन्होंने तीन दिन और तीन रात बिना खाये-पिये नमाज और नाम जप में बिताए। चौथी रात को आँख में जरा ऊँघ आने लगी, तब एकदम खड़े हो गए और कहने लगे, ''ओ खुदा ! यह मेरी तन्द्रा भरी आँख और भूखा पेट मुझे बहुत परेशान करते हैं, इनसे छुटकारे के लिए मैं तेरा आश्रय माँगता हूँ।''

इसके बाद मेरे सुनने में आया कि वे रात को कभी सोते ही नहीं थे। सारी रात नमाज और जप में ही बिताते थे। इसी बीच में किसी ने उनसे पूछा, ''आविस ! तुम्हारी उपासना किस तरह चलती है?''

वे बोले, ''मेरे मन को सन्तोष हो ऐसी तो नहीं है; और इसलिए मैं प्रभु के पास से ऐसे माँगता हूँ कि – हे मेरे पवित्र प्रभु ! तू सबसे श्रेष्ठ है, ऐसा कहते-कहते ही सबेरा हो जाय, पर वैसा नहीं होता, अत: मुझे असन्तोष रहा करता है।''

एक समय दूसरे किसी ने उनको पूछा, ''महात्मा ! मनुष्य उपासना में मग्न है, यह किस तरह पता चले?''

वे बोले, ''यदि लाठी मारने पर भी उसका ध्यान भंग न हो, तो जान लो वह सचमुच उपासना में तल्लीन है।''

हम शुरू में ही कह आये हैं कि उनके पड़ोसी तो उन्हें पागल ही मानते थे और जब वे बाहर निकलते, तो लड़के उनके आगे-पीछे दौड़ते और – यह पागल आया, यह पागल आया – ऐसा कहकर उनको पत्थर मारते।

ये महात्मा जरा भी क्रोधित हुए बिना हँसकर उन छोकरों से कहते, ''भाइयों, तुमको पत्थर मारने में मजा आता हो, तो खुशी तो मारो, पर जरा छोटे-छोटे मारो, ताकि खून न निकले। खून निकलने पर अपवित्र हो जाने के कारण मैं नमाज नहीं पढ़ सकूँगा।''

इससे समझ में आता है कि उनको अपने शरीर के लिये जरा-सी भी चिन्ता नहीं थी। उनकी दृष्टि में खुदा की बन्दगी ही जिन्दगी का सर्वश्रेष्ठ काम था।

### महात्मा आविस के बोधवचन

१. जिन लोगों को निम्नलिखित तीन चीजों पर प्रीति होती है, उनके और नरक के बीच ज्यादा दूरी नहीं है – (क) अच्छे-अच्छे भोजन (ख) सुन्दर वस्त्र (ग) धनवानों की संगति।

२. जिसने ईश्वर का साक्षात्कार किया है, उसने जानने योग्य सब कुछ जान लिया है।

३. जिसे अपनी उन्नति करनी हो, उसे विनयी बनना चाहिए। जिसे पुरुषार्थ सिद्ध करना हो, उसे सच्चा होना चाहिए। जिसे गौरव पाना हो, उसे ईश्वर से डरना चाहिए। जिसे बड़ा होना हो, उसे धैर्यवान होना चाहिए। जिसे शान्ति पानी हो, उसे वैराग्यवान बनना चाहिए और जिसे सम्पत्ति चाहिए, उसे धनाढ्य का आश्रय उचित है। ❖ **(क्रमश:)** ❖

## स्वामीजी को श्रद्धांजलि

*स्वामी पूर्णानन्द*

**हे 'विवेकानन्द कन्द'**
**सत्प्रेम सुमति सुखदायक।**
**वरदपुत्र श्रीरामकृष्ण के,**
**अभिनव ऋषिकुल नायक।।**

**हे वागीश विरति व्रतधारी**
**कर्म-धर्म उद्बोधक।**
**हे 'नरेन्द्र' नरसिंह नरोत्तम,**
**निगत नीतिपथ शोधक।।**

**हे वेदान्त ज्ञान अधिनायक**
**भक्ति भोग उद्गाता।**
**जगप्रसिद्ध गौरव गुणसागर**
**ज्ञानिश्रेष्ठ विख्याता।।**

**यतिकुल श्रेष्ठ शास्त्र श्रुति-सम्मत**
**आत्मबोध वरदायी।**
**जन-मन-रंजन भव-भय-भंजन**
**सत्‌चित्-शिवपददायी।।**

**गुरु चरणों पर तन-मन वारा**
**बने परम विज्ञानी।**
**ज्ञानामृत बाँटा जग भर में**
**सबने महिमा जानी।।**

**किया चमत्कृत जनमानस को**
**अपनी ज्ञान विभा से।**
**उपकृत है सम्पूर्ण जगत्**
**तेरी पावन प्रतिभा से।।**

**श्रद्धा-सुमन समर्पित स्वामिन्**
**'विजय दिवस' पर तेरे।**
**बाल-प्रणति स्वीकार करें**
**है दोष यदपि बहुतेरे।।**

**संस्थापित हो धर्मतंत्र,**
**सब बनें सुपथ अनुगामी।**
**भारत बने जगद्‌गुरु फिर से**
**यही मनोरथ स्वामी।।**

# हाथरस और ऋषीकेश में स्वामीजी

***स्वामी विदेहात्मानन्द***

भारत के उत्तरी अंचल में स्थित हिमालय और इसमें स्थित तीर्थस्थान अति प्राचीन काल से ही ध्यान, तप आदि ईश्वर की प्राप्ति के लिये साधना की दृष्टि से अति उत्तम माने गये हैं। अति प्राचीन काल से ही भारत के सन्त-महात्मा, साधक तथा भक्त हिमालय की ओर आकृष्ट होकर वहाँ जाने की कामना रखते हैं। हिन्दू जाति के चार धामों में से एक प्रमुख धाम – बदरी-नारायण हिमालय में ही स्थित है। अत: स्वाभाविक ही था कि ध्यान एवं तपस्या के लिये आकुल स्वामीजी हिमालय में ही किसी निर्जन स्थान की खोज करते।

### हाथरस स्टेशन पर

१८८८ ई. के अगस्त के अन्त या सितम्बर के शुरू में हरिद्वार-ऋषीकेश और वहाँ से बदरीनारायण जाने की इच्छा से स्वामीजी वृन्दावन से चलकर हाथरस जा पहुँचे। शायद उनके पास हाथरस तक का ही टिकट था, इसलिये वे ट्रेन से वहीं उतर गये थे। प्लेटफार्म के एक किनारे जाकर वे एक बेंच पर बैठ गये। वे आगे की यात्रा कब और कैसे करेंगे – यह पूरी तौर से अनिश्चित था, परन्तु अकिंचन संन्यासी के चेहरे पर परम निश्चिन्तता का भाव था। उनके बड़े-बड़े नेत्रों से तीव्र वैराग्य तथा अलौकिक ज्ञान की ज्योति नि:सृत हो रही थी। यात्रा के श्रम से उन्हें शायद थोड़ी थकान हो गयी थी और उन्हें भूख भी लग आयी थी, इसीलिये वे उस बेंच पर बैठे अपने भाव में तल्लीन होकर विश्राम कर रहे थे।

तभी हाथरस के सहकारी स्टेशन मास्टर शरत्चन्द्र गुप्त उधर से होकर गुजरे। उनकी दृष्टि इन तेजस्वी युवक-संन्यासी की ओर आकृष्ट हुई। उनके उज्ज्वल नेत्र तथा प्रसन्न मुखकान्ति देखकर वे प्रथम दृष्टि में ही उन पर मुग्ध हो गये। उनके मन में आया – "वाह, ऐसे अद्भुत व्यक्तित्व वाले साधु पहले तो कभी दिखे नहीं।" वे तुरन्त उनके पास जाकर उनसे बातें करने लगे, "महाराज, यहाँ क्यों बैठे हैं? जायेंगे नहीं?"

उत्तर मिला – "हाँ, हाँ, जरूर जायेंगे।"

"लगता है कि आप भूखे हैं!"

"भूखा तो अवश्य हूँ।"

"तो फिर आपके लिये क्या लाऊँ?"

"जो भी मिल जाय, ले आओ।"

वहाँ जो कुछ भी मिला, शरत् बाबू ने उसे लाकर स्वामीजी के भोजन की व्यवस्था की। स्वामीजी का कई दिनों से ठीक से भोजन नहीं हुआ था। भक्त द्वारा लायी हुई विविध प्रकार की खाद्य-सामग्री को उन्होंने बड़े सन्तोषपूर्वक ग्रहण किया।

इसके बाद उन्होंने पूछा – "बाबाजी, तम्बाकू पीयोगे?"

उत्तर मिला – "पिलाओ, तो जरूर पी लेंगे।"

संन्यासी की सहज-सरल बातों और उनका सुन्दर तथा तेजोमय शरीर ने उनका मन मोह लिया। उनके नेत्रों में सम्पूर्ण विश्व को अपना बना लेनेवाला अलौकिक आलोक विकिरित हो रहा था। उन्हें लगा कि यदि सम्भव हो, तो कुछ दिन इनके सत्संग का लाभ उठाना चाहिये। उन्होंने बड़े संकोचपूर्वक स्वामीजी को अपने घर आने का आमंत्रण देरते हुए कहा, "महाराज, कृपया मेरे घर चलिये। मैं अकेला ही रहता हूँ।" स्वामीजी ने कहा, "ठीक है, चलो।"

शरत्बाबू ने उन्हें पास में ही स्थित आवास में ले जाकर ठहरा दिया। उस दिन का कार्य समाप्त होने के बाद उन्हें इन संन्यासी को भलीभाँति देखने तथा उनसे बातें करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। थोड़ी देर बातचीत के बाद स्वामीजी ने पूछा, "अजी, तुम आज अपने अतिथि को क्या खिलाओगे?" शरत्चन्द्र ने एक फारसी कविता से उद्धृत करते हुए कहा, "हे प्रियतम, तुम मेरे घर आये हो। मैं अपना कलेजा निकालकर उसी से तुम्हारे लिये उत्तम व्यंजन बनाऊँगा।" उस दिन उन्होंने अपने हृदय की श्रद्धा तथा स्नेह उड़ेल कर ही अपने इन दिव्य अतिथि का सत्कार किया था। उन्होंने स्वयं ही कुँए से पानी निकालकर बड़े यत्न तथा श्रद्धा के साथ स्वामीजी को स्नान कराया, अपने हाथ से भोजन बनाकर खिलाया, उनके विश्राम का समुचित प्रबन्ध किया और सोचने लगे कि इन अतिथि की प्रसन्नता हेतु और भी क्या किया जा सकता है! स्वामीजी उनकी सरलता तथा सेवा-भाव पर बड़े प्रसन्न हुए।[१]

शरत्बाबू संन्यासी को जितना ही देख रहे थे, उनके प्राण उतना ही उनके प्रति अधिकाधिक अनुरक्त होते जा रहे थे – संसार में एकमात्र वे ही अपने जन प्रतीत हो रहे थे। शरत्चन्द्र के पास – विद्या, बुद्धि, यौवन, सामर्थ्य, माता-पिता, भाई-बहन, सगे-सम्बन्धी – संसार का सब कुछ तो था, तथापि उनके प्राणों में एक गीत ध्वनित हो रहा था, जिसका भावार्थ है – "पराये लोगों के प्रेम में अचेत होकर तुम क्यों अपने परम आत्मीय को भूले हुए हो?"

किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर शरत्चन्द्र एक दिन सरल हृदय के साथ स्वामीजी से पूछ बैठे, "मेरा क्या होगा? आप मुझे भी अपने साथ ले चलिये।" परिहास-प्रिय स्वामीजी 'विद्यासुन्दर' नाटक के एक गीत की कुछ कड़ियाँ गुनगुनाते हुए गाने लगे। वे हूबहू अभिनय की मुद्रा में हाथ नचा-नचाकर गाने लगे –

१. स्वामी विवेकानन्द (बँगला), प्रमथनाथ बसु, प्रथम भाग (पंचम सं., १९९४, पृ. १४४; युगनायक विवेकानन्द, सं. १९९८, खण्ड १, पृ. २१०

**विद्या को यदि चाहो पाना,**
**निज शशिमुख में राख लगाना ।**
**नहीं अगर कर सकते ऐसा,**
**जल्दी से पथ देखो अपना ।।**

शरत्चन्द्र इतने सरल थे कि उन्होंने क्षण भर भी विचार नहीं किया और सहसा वहाँ से उठकर दौड़ते हुए रसोईघर में गये, चूल्हे से राख निकालकर अपने चेहरे पर मल लिया और विचित्र वेश बनाये वापस लौट आये । स्वामीजी हँसते हुए लोटपोट हो गये, बोले, "अरे, तुम अपने चेहरे पर राख क्यों लगा आये?" शरत्चन्द्र ने संकुचित होकर उत्तर दिया, "क्यों बाबा, आपने ही तो मुझे ऐसा करने को कहा था !"

अस्तु, इस तरह हास-परिहास चलते रहने पर भी शरत्चन्द्र ने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि वे इस जीवन का सर्वस्व खोकर भी स्वामीजी का अनुसरण करेंगे । इसके लिये जरूरत पड़ी, तो वे अपना काम छोड़ देंगे – संसार त्याग देंगे ।[२]

## हाथरस में सत्प्रसंग

बातचीत के दौरान किसी ने ब्रजेन बाबू नामक एक सज्जन का उल्लेख किया । इसी नाम के एक व्यक्ति कलकत्ते में रहते थे और स्वामीजी के परिचित थे । उन्हें लगा कि कहीं ये वे ही तो नहीं हैं ! वे ब्रजेन बाबू के घर गये और देखते ही पहचान लिया । वे भी स्वामीजी को देख बड़े आनन्दित हुए और उन से कुछ दिन अपना आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध किया । कुछ दिनों बाद वे शरत्बाबू के घर लौट आने की शर्त पर स्वामीजी वहीं ठहर गए । वहाँ रहते समय उनके आकर्षण से मानो पूरा बंगाली टोला ही वहाँ टूट पड़ा । कुछ दिन पूर्व से इन लोगों के बीच आपस में बड़ा मनमुटाव चल रहा था । स्वामीजी के सान्निध्य से उनका सारा तनाव छू-मंतर हो गया । उनके मुख से होनेवाली धर्म तथा देश विषयक मर्मस्पर्शी चर्चाओं तथा उनके किन्नर कण्ठ से प्रवाहित होनेवाली भजन-संगीत की लहरी के रसास्वादन हेतु उनके घर आनेवालों की भीड़ उत्तरोतर बढ़ने लगी । स्वामीजी वहाँ से प्राय: ही शरत्बाबू तथा उनके मित्र नटूकृष्ण बाबू के घर भी जाते । दोनों के साथ उनकी काफी घनिष्ठता हो गयी थी । इन लोगों के आग्रह पर इसके बाद स्वामीजी कुछ दिन इनके घर भी रहे । विशेषकर उनकी भजन-माधुरी से आकृष्ट होकर हाथरस के अनेक गणमान्य और उच्चपदस्थ लोग भी नित्य उनकी बैठक में भाग लेते । संध्या का समय संगीत को समर्पित था ।[३]

## मातृभूमि का भविष्य

एक दिन शरत्चन्द्र स्वामीजी को थोड़ा चिन्तामग्न देखकर निश्छल भाव से पूछ बैठे, "स्वामीजी, आप थोड़े चिन्तामग्न दिखाई पड़ते हैं । आप क्या सोच रहे हैं? मैं सर्वदा ही आपका आदेश पालन करने को तैयार हूँ । मैं आपकी क्या सहायता कर सकता हूँ, आदेश दीजिये ।"

क्षण भर मौन रहने के बाद स्वामीजी बड़ी आवेगपूर्ण भाषा में श्रद्धावान् शरत्चन्द्र को अपने जीवन का मूल उद्देश्य के विषय में बताने लगे – वत्स, मेरे जीवन का एक महान् व्रत है, पर मैं अपनी शक्ति की अल्पता को देखते हुए यह सोचकर उदास हूँ कि इस व्रत को भला मैं कैसे पूरा कर सकूँगा? मेरे गुरुदेव ने मुझे अपने सन्देश के प्रचार और उसके माध्यम से भारतवर्ष के पुनरुद्धार का महान् कार्य का उत्तरदायित्व सौंपा है । इस देश में धर्म तथा आध्यात्मिकता का काफी ह्रास हो चुका है और देश में सर्वत्र अशिक्षा तथा भूखमरी फैली हुई है । भारत को पुन: क्रियाशील तथा कर्मठ बनाना होगा, ताकि वह अपनी ही आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा जगत् का सम्मान हासिल कर सके । अपनी आध्यात्मिकता के द्वारा उसे विश्व-विजय करनी होगी । युगधर्म-प्रचार तथा जीव-उद्धार-रूपी यह महान् कार्य कैसे पूरा हो सकेगा और कौन इस गुरुभार को वहन करने में मेरा सहभागी होगा – यही सब मेरी चिन्ता का विषय है ।

शरत्चन्द्र ने मंत्रमुग्ध होकर सब सुना और आवेगपूर्वक बोले, "मैं तैयार हूँ, कहिये, मुझे क्या करना होगा?"

स्वामीजी बोले – "क्या तुम मेरे लिये भिक्षापात्र और कमण्डलु उठाकर इस महत् कार्य में मेरा अनुसरण करने को तैयार हो? क्या तुम द्वार-द्वार पर जाकर मेरे लिये भिक्षा माँगने के लिये तैयार हो?"

स्टेशन मास्टर ने सुदृढ़ कण्ठ से हामी भरी और आदेश का पालन करने हेतु तत्काल हाथ में भिक्षापात्र लेकर कुलियों के मुहल्ले की ओर निकल पड़े । भिक्षा में प्राप्त सारी सामग्री को लाकर उन्होंने स्वामीजी के सामने रख दिया । शरत्चन्द्र के मन की दृढ़ता, निरभिमानता तथा सत्साहस देखकर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें हृदय से आशीर्वाद प्रदान किया । स्वामीजी ने उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया ।

## अलविदा हाथरस

स्वामीजी के सान्निध्य में शरत्चन्द्र तथा अन्य लोगों के दिन बड़े आनन्द में कट रहे थे । परन्तु स्वामीजी का मन तो अपने मुख्य गन्तव्य हिमालय के आकर्षण से आकुल हो रहा था । उन्होंने निश्चय किया कि अब वे हाथरस से अपना आसन उठाकर पुन: हरिद्वार तथा ऋषीकेश की यात्रा आरम्भ करेंगे । एक दिन सुबह स्वामीजी ने सहसा घोषणा की कि वे अब आगे की यात्रा पर चल पड़ेंगे । वे बोले, "यहाँ मैं अब और नहीं ठहर सकूँगा । मैं संन्यासी हूँ और किसी एक स्थान पर अधिक दिनों तक रहना उचित नहीं । फिर मेरा तुम लोगों के

---

**२.** स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला), स्वामी अब्जजानन्द, सं.१९८३, पृ. २२२;

**३.** स्वामी विवेकानन्द (बँगला), भाग १, पृ. १४५; युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, पृ. २११

प्रति लगाव भी थोड़ा अधिक हो गया है – यह भी धर्मजीवन का एक बन्धन है। तुम लोग मुझे अब और मत रोको।''

शरत्‌बाबू तथा उनके मित्र यह सुनकर बड़े दुखी हुए और उनके इस संकल्प को टलवाने की चेष्टा करने लगे, पर जब देखा कि वे टस-से-मस नहीं होने वाले हैं, तो उन लोगों ने अनुरोध किया कि वे उन्हें अपना शिष्य बना लें। स्वामीजी ने उनकी परीक्षा लेने के उद्देश्य से कहा, ''क्यों? क्या तुम लोग सोचते हो कि मेरा शिष्य हो जाने से ही आध्यात्मिक जीवन का सब कुछ प्राप्त हो जायगा? ईश्वर सर्वव्यापी हैं – सभी जीवों में विराजमान हैं – इसी को याद रखकर अपने कर्तव्य-पालन से तुम्हारी उन्नति हो जायेगी; जो कुछ भी करोगे, वह सब तुम्हारे धर्मजीवन में सहायक होगा। तुम्हारे साथ बीच-बीच में मेरी भेंट होती रहेगी।''

### शरत्‌चन्द्र से सदानन्द

परन्तु शरत्‌चन्द्र नाछोड़-बन्दे थे, वे जरा भी पीछे नहीं हटे। उनके मन का दृढ़ संकल्प था कि किसी भी कीमत पर स्वामीजी के चरणों का आश्रय पाना है। हार कर स्वामीजी ने उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार किया और उन्हें मंत्रदीक्षा दी। उन्होंने गृहसुख को तिलांजलि देते हुए रेलवे की नौकरी से त्यागपत्र दिया और दो-चार वस्त्रों को गेरुए रंग में रँगकर उनकी एक पोटली बाँधकर वे स्वामीजी का अनुसरण करने को तैयार होकर बोले, ''आप मुझे भी साथ ले चलिए।'' हारकर स्वामीजी ने हामी भरी और वे गुरुदेव के संग केदार-बदरी के दर्शनार्थ उत्तराखण्ड के पथ पर चल पड़े।

### सहारनपुर और हरिद्वार

स्वामीजी ने हिमालय की यात्रा आरम्भ की। शरत्‌चन्द्र ने भी अपने गुरुदेव के साथ अनुगमन किया। सरलहृदय शिष्य की प्रबल निष्ठा देखकर गुरु के भी आनन्द की सीमा न थी। स्वामीजी के ये नये शिष्य अपना पूरा मन-प्राण लगाकर अपने पथ-प्रदर्शक आचार्य की सेवा में मनोनियोग करते हुए एक सुयोग्य शिष्य बनने की साधना में जुट गये। स्वामीजी का अनुसरण करते हुए क्रमश: यह बात उनकी समझ में आने लगा कि सर्वत्यागी परिव्राजक का यह ईश्वर-निर्भर कितना कठिन है! परन्तु स्वेच्छापूर्वक किया हुआ त्याग और कठोर तपस्या ही तो संन्यासी की दैनन्दिन जीवनचर्या है।

हाथरस से सहारनपुर तक ट्रेन में आने के बाद दोनों ने पैदल ही चलना आरम्भ किया। वे लोग एक साथ पहले हरिद्वार और फिर वहाँ से ऋषीकेश की ओर चल पड़े।

### हरिद्वार तथा ऋषीकेश के पथ पर

शरत्‌चन्द्र ने पाया कि कल्पना में उन्हें परिव्राजक संन्यासी का जीवन जैसा आकर्षक प्रतीत हुआ था, वस्तुत: वैसा मन-मोहक नहीं है। यह कठोर तपस्या का जीवन है। वे गृहसुख के अभ्यस्त थे, अत: क्रमश: उन्हें आटे-दाल का भाव समझ में आने लगा। वह जीवन कठोर साधना, अनिश्चयता तथा दैहिक कष्टों का सम्मिलित रूप था। विपदाओं से परिपूर्ण वह जीवन कभी-कभी उनकी सहनशक्ति को पार कर जाता था।

इस यात्रा का वर्णन करते हुए स्वामी अब्जजानन्द जी लिखते हैं – स्वामीजी के पीछे चलते हुए शरत्‌चन्द्र के मन में उनके जीवन की इस काल की स्मृतियाँ बड़ी दृढ़तापूर्वक अंकित हो गयी थीं। वस्तुत: ये ही उनके समग्र जीवन में कर्म तथा साधना की प्रेरणा बनी रहीं। कम्बल तथा पोटली को अपने कन्धे पर झुलाकर बाँये हाथ से उसे पकड़े हुए पहाड़ की ऊबड़-खाबड़ पगडंडियों पर चढ़ाई-उतराई करना अनभ्यस्त शरत्‌चन्द्र के लिये कितना कष्टकर था, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। तथापि स्वामीजी सुदृढ़ कदमों के साथ तेजी से अग्रसर हो रहे थे। शरत्‌चन्द्र अपने शरीर का भार और ऊपर से साथ की पोटली का भार सँभाल पाने में कठिनाई का अनुभव करते हुए क्रमश: पिछड़ते जा रहे थे। पाँवों का भारी बूट भी असुविधा का एक कारण हो गया था – ऐसा लग रहा था कि उसका वजन उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। कोई अन्य चारा न देख शरत्‌चन्द्र ने अपने जूते उतार दिये और उन्हें भी अपनी पोटली में घुसा लिया – सोचा कि नंगे पाँव चलने में सुविधा होगी। परन्तु थके हुए शरीर के साथ इस दुर्गम पथ को पार करना उनके लिये कठिनतर होता जा रहा था – बोझ के सन्तुलन को बनाये रखकर ऊबड़-खाबड़ कठिन फिसलनदार पथ पर पाँव बढ़ा पाना अब उनके लिये असम्भव होता जा रहा था। इसके बाद वे पोटली को सिर पर रखकर चलने का प्रयास करने लगे। शिष्य की यह दुरवस्था देखकर स्वामीजी ने उनकी पोटली को छीनकर अपने सिर पर रख लिया और अपने हाथ बढ़ाकर शिष्य के शरीर को भी दृढ़तापूर्वक पकड़ कर पथ पर चलते रहे। परवर्ती काल में शरत्‌चन्द्र इस घटना का स्मरण करते हुए अश्रुपात् किया करते और अभिमान तथा गर्व के साथ कहते – ''अरे, ऐसे न होने पर क्या स्वामीजी मेरे गुरु होते? शान्त भाव से वे मेरे जूते सिर पर उठाये चल पड़े! और मैं भी उन दिनों ऐसा बुद्धू था और स्वामीजी की बातें सुनते हुए मैं इतना अन्यमनस्क हो गया था कि स्वयं गुरुदेव ही मेरे जूते अपने सिर पर लेकर चल रहे हैं, इसका मुझे खयाल ही नहीं आया। मेरा सोलहों आने मन केवल उनकी बातों में ही लगा हुआ था। इसी को कहते हैं स्वामीजी का प्रेम। अरे, मैंने स्वामीजी की सेवा करने के लिये ही जन्म लिया है। मैं संसार में और कुछ भी नहीं चाहता।'' फिर वे कई बार आवेगपूर्वक कहते, '' 'उलटा

समझलीं राम' हुआ, उन्हीं को मेरा बोझ ढोना पड़ा। केवल बोझ ही नहीं, बल्कि मेरे भारी जूते तक उन्होंने सिर पर वहन किये। ऐसे न होने पर क्या मैं उन्हें गुरु बनाता?''

स्वामी सदानन्द अपने गुरुदेव की स्मृतिकथा बताते समय ऐसी अनेक घटनाओं का वर्णन करते थे, जिनमें स्वामीजी के लोकोत्तर जीवन का बहुत-कुछ आभास प्राप्त होता था। स्वामीजी के साथ यात्रा-काल के इन विचित्र अनुभवों के बारे में बोलते हुए वे भावविभोर हो जाते और रुद्ध कण्ठ से वे कितनी ही बातें बताते। सदानन्द-कथित एक स्मृतिचित्र इस प्रकार है –

''पहाड़ों में घूमते समय एक दिन मेरा शरीर भयानक थकान से अवश हो गया था। भूख-प्यास से मैं इतना कातर हो गया था कि उस दिन निश्चित रूप से मेरी मृत्यु हो जाती। परन्तु स्वामीजी का कैसा अद्भुत स्नेह था! वे अपने हाथ से पकड़कर मुझे बहुत दूर तक ले गये और इस प्रकार मेरी प्राणरक्षा की। एक अन्य दिन एक पहाड़ी नदी को पार करके जाना था। एक व्यक्ति से एक घोड़े की व्यवस्था की गयी। नदी में भयंकर प्रवाह था और उसका तल खूब चिकने पत्थरों से भरा था। पग-पग पर पाँव फिसलने की आशंका थी। उस तीव्र धारा में एक पाँव फिसलते ही मृत्यु तक हो सकती थी। मैं तो घोड़े पर सवार होकर मजे में चल रहा था और स्वामीजी अपने जीवन को संकट में डालकर सईस के समान मेरे घोड़े की लगाम पकड़कर मुझे सँभालते हुए ले जा रहे थे। बीच-बीच में कई बार तो ऐसा लगा कि घोड़े को अब नियंत्रण में नहीं रखा जा सकेगा। परन्तु स्वामीजी अद्भुत साहसी थे – उनके हृदय में कितना स्नेह तथा करुणा थी! अपने जीवन को संकट में डालकर भी उन्होंने घोड़े सहित मुझे पार किया था। उनके स्नेह-प्रेम की बात क्या मुख से कहकर समझायी जा सकती है? वे प्रेम के अवतार थे। उनके साथ रहने पर मन में इतना बल तथा साहस रहता कि मृत्यु भी तुच्छ प्रतीत होती।''[४]

अन्य समय उन्होंने कहा था, ''मेरे जीवन की रक्षा के लिए कितनी ही बार उन्होंने अपने जीवन को दाँव पर लगा दिया था। मित्रो, मैं उनकी बात कैसे कहूँगा? केवल यही कह सकता हूँ – वे थे प्रेममय, प्रेममूर्ति, प्रेमस्वरूप! मैं जब इतना दुर्बल हो गया था कि किसी तरह डगमगाते हुए चल पाता था, उस समय उन्होंने मेरे सारे सामान, यहाँ तक कि जूते भी अपने कन्धे पर वहन किए थे।''

''एक दिन हम दोनों पहाड़ के ऊपर होकर वनमार्ग से जा रहे थे। जाते-जाते एक जगह मनुष्य की कुछ हड्डियाँ पड़ी हुई दीख पड़ीं। उसके आसपास गेरुए वस्त्र के कुछ टुकड़े भी बिखरे हुए थे। स्वामीजी ने उंगली से उस ओर संकेत करते हुए कहा, 'देख शरत्, एक संन्यासी को बाघ ने खाया है। तुम्हें डर लग रहा है क्या?'' मैंने कहा था, 'आप यदि साथ रहें, तो फिर मुझे भला किसका भय हो सकता है?' ''

बाद में एक बार भयंकर रोग से आक्रान्त हो शरत्चन्द्र ने जब स्वयं को अति असहाय समझकर स्वामीजी से पूछा था कि क्या वे उनको सदा के लिए छोड़ जाएँगे, तब स्वामीजी ने स्नेहपूर्ण भर्त्सना के साथ कहा था, ''कैसा बुद्धू है! क्या तुझे याद नहीं है कि मैंने तेरे जूते तक ढोये हैं?''[५]

### ऋषीकेश में साधना

शरत्चन्द्र को साथ लेकर स्वामीजी ऋषीकेश पहुँचे। वहाँ वे शिष्य के साथ अन्य साधुओं की भाँति झाड़ी में रहकर कठोर ध्यान-भजन में तन्मय हो गये। यहाँ साधना के उपयुक्त परिवेश पाकर स्वामीजी विशेष आनन्दित थे। गंगा की कल-कल ध्वनि और सामने हिमालय का नयनाभिराम सौन्दर्य उन्हें मुग्ध और आमंत्रण प्रदान कर रहा था।

स्वामीजी ने एक बार बताया था, ''ऋषीकेश में मुझे कई महापुरुषों के दर्शन हुए थे, जिनमें से एक की बात याद है – वे पागल जैसे दिख रहे थे। निर्वस्त्र रास्ते पर चले जा रहे थे। लड़के उनके पीछे दौड़ते हुए उन पर पत्थर फेंक रहे थे। उनके चेहरे तथा गर्दन से खून की धारा बह रही है, तो भी वे ठठाकर हँसते हुए चले जा रहे थे। मैं उनके पास गया, उनके घाव धोये और खून बहना रोकने के लिये कपड़े का टुकड़ा जलाकर घावों पर लगा दिया। इस दौरान वे हँस-हँसकर बताते रहे कि पत्थर फेंकने के इस खेल में बच्चों तथा उन्हें भी कितना मजा आ रहा था। वे बोले, ''परम पिता ऐसे ही खेलते हैं!'' कुछ सन्त लोगों की भीड़ से छुटकारा पाने के लिये छिपकर रहते हैं। वे संसारी लोगों का सम्पर्क पसन्द नहीं करते। एक सन्त ने अपनी गुफा के चारों ओर हड्डियाँ बिखेर रखी थीं और ऐसा भ्रम फैला रखा था कि वे मुर्दों का भक्षण करते हैं। एक अन्य किसी को देखते ही पत्थर फेंकने लगते। अन्य लोग भी ऐसा ही कुछ करते थे।[६]

स्वामीजी का मन केदार-बदरी की ओर जाने को व्याकुल था, पर शरत्चन्द्र के स्वास्थ्य तथा अक्षमता की बात सोचकर वे बारम्बार अपने मन को शान्त कर रहे थे। सर्व-बन्धन-मुक्त परिव्राजक एक दिन सहसा बोल उठे, ''गुप्त, देखता हूँ – तू तो मेरे पाँव की बेड़ी हो गया है। मैं सब कुछ छोड़कर एकाकी भ्रमण कर रहा हूँ, लेकिन तू आकर मेरे लिये एक झंझट बन गया। अब मैं अपने भाव में चलूँगा, यहाँ और नहीं रहूँगा।'' उधर सदानन्द उस समय भूखे स्वामीजी के लिये भिक्षा में प्राप्त चावल-दाल से खिचड़ी

**४.** स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला), स्वामी अब्जजानन्द, पृ. २२७-२८

**५.** युगनायक विवेकानन्द, सं. १९९८, खण्ड १, पृ. २१२; **६.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ४१७

पका रहे थे। वह बात कहने के बाद स्वामीजी ने अपना कम्बल उठाकर कन्धे पर रखा और दण्ड-कमण्डलु हाथ में लेकर रास्ते पर निकल पड़े। थोड़ी ही देर में वे लक्ष्मण झूला की ओर चलते हुए अदृश्य हो गये।

शरत्चन्द्र इस पर किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर चुपचाप चूल्हे के पास ही बैठे रहे। चूल्हे की धीमी आँच में चावल-दाल उबल रहा था – और उसके साथ ही अब उनके सीने में जल रही आग के ताप से उनका हृत्-पिण्ड भी उबलने लगा। ३-४ घण्टे इसी प्रकार बीते – हताशा, अभिमान एवं वेदना से त्रस्त सदानन्द ठूँठ के समान निष्पन्द वहीं बैठे रह गये।

तभी सहसा न जाने कहाँ से आकर स्वामीजी शरत्चन्द्र के पीछे खड़े हो गये और बोले, "क्यों रे, कुछ खिला सकता है? बड़ी भूख लगी है।" सुनकर शरत्चन्द्र को लगा मानो घनघोर काले बादलों के पीछे से सूर्य का उदय हो गया है। उनके मुख पर हँसी फूट पड़ी और वे बोले, "अभी देता हूँ। खिचड़ी तो चढ़ी ही हुई है।" स्वामीजी ने प्रसन्न होकर शिष्य को अपने पास खींच लिया और बोले, "तू बिना खाये बैठा है?" अभिमानपूर्ण कण्ठ से शिष्य ने उत्तर दिया, "आप नहीं थे, तो भला कैसे खाता?" स्वामीजी ने इस पर कहा था, "देखता हूँ कि तू सचमुच ही मेरे पाँवों की बेड़ी बन गया है। मैं चला तो गया ही था – पहाड़-जंगलों को पार करके काफी दूर निकल जाने पर तेरी बात याद आयी। तुझे अकेला छोड़ आया हूँ। सोचा – तू जैसा बुद्धू है, न जाने क्या कर बैठे! इसीलिये देख, मैं तेरे लिये ही फिर लौट आया।" शरत्चन्द्र ने स्वामीजी के भिक्षापात्र में गरम-मरम खिचड़ी परोस दी और उन्हें खाने को बैठाया।

स्वामीजी को खूब प्रसन्न देखकर शिष्य ने गर्वपूर्वक कहा, "आप जायेंगे कैसे? मैं ही तो आपको खींच लाया हूँ।"[७]

## एक बार फिर हाथरस में

स्वामीजी की विशेष इच्छा थी कि वे ऋषिकेश में दीर्घ काल तक ठहरकर तपस्या करें और बाद में केदारनाथ और बदरिकाश्रम की तीर्थयात्रा पर जायें; परन्तु उस समय उस संकल्प का परित्याग करना पड़ा। शरत्चन्द्र के बीमार हो जाने के कारण वे उन्हें साथ लेकर वापस लौट पड़े। स्वामीजी के हाथरस लौट आने से उनके पुराने मित्रगण बड़े आनन्दित हुए। स्वामीजी ने उन मित्रों की सहायता से शरत्चन्द्र की चिकित्सा आदि की व्यवस्था की।

उधर ऋषिकेश में ही रहते समय स्वामीजी के शरीर में भी मलेरिया के जीवाणुओं का संक्रमण हो गया था, अत: हाथरस में उन्हें भी भयानक बुखार चढ़ आयी।

७. स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला), स्वामी अब्जजानन्द, पृ. २२९; श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, खण्ड १, सं. १९९८, पृ. ४८

## स्वामीजी का कलकत्ते लौटना

स्वामी शिवानन्द अपने संस्मरणों में लिखते हैं, "मैं भी स्वामीजी का पदानुसरण करने के विचार से हिमालय की ओर जा रहा था। बीच में श्री वृन्दावन के दर्शन करके जाने की इच्छा से हाथरस जंक्सन पर उतरकर मैं वृन्दावन की गाड़ी पकड़ने की सोच रहा था, तभी सुनने में आया कि स्वामीजी वहीं हैं और बीमार हैं। फिर वृन्दावन जाना नहीं हुआ। पता लगाते हुए मैं स्वामीजी के निवास स्थान पर जा पहुँचा। वे मुझे देखते ही बोले ,"क्यों तारक दादा ! आ गये ! मैंने सोचा था कि हरिद्वार पहुँचकर कुटिया बनाकर तुम्हें लिखूँगा, तुम उसके बाद आओगे। खैर, जब आ ही गये हो, तो श्री वृन्दावन दर्शन करके आ जाओ, उसके बाद तपस्या करने एक साथ ऋषीकेश चलेंगे।" श्री वृन्दावन दर्शन करके हाथरस आने पर मैंने देखा कि स्वामीजी बड़े अस्वस्थ हैं। मैंने कहा, 'इस समय आपको हिमालय में जाकर तपस्या करने की जरूरत नहीं। आपके शरीर की हालत बड़ी खराब है, मैं भी इस समय नहीं जाऊँगा, आपको साथ लेकर मठ को लौटूँगा।' वे बोले, 'नहीं, जब तुम एक शुभ उद्देश्य लेकर निकले हो, तो हरिद्वार चले जाओ। मैं भी स्वस्थ होकर पुन: हरिद्वार की ओर आऊँगा।" मैंने कहा, 'नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। आपको ऐसी अवस्था में छोड़कर मैं कदापि नहीं जाऊँगा। आपको अवश्य मठ ले जाऊँगा। आप ऐसी असहाय जगह पर बीमार पड़े रहेंगे और मैं तपस्या करने जाऊँगा? ऐसा कभी नहीं हो सकता।' स्वामीजी इस पर सहमत हुए और उसी दिन हम लोगों ने कलकत्ते की ओर प्रस्थान किया।"[८] स्वामीजी गुरुभ्राता के साथ वराहनगर मठ लौट आए। विदा लेते समय वे शरत्चन्द्र को कह गए कि स्वस्थ होते ही वे भी वराहनगर चले आयें। उस समय १८८८ ई. का अन्तिम काल चल रहा था।

शरत्चन्द्र को स्वस्थ होने तथा किराया जुटाकर मठ आने में और भी कुछ महीने लग गये। जब वे मठ में पहुँचे, उस समय स्वामीजी किसी नयी यात्रा की तैयारी कर रहे थे, पर उनके आने से उन्होंने उसे स्थगित कर दिया। स्वामीजी उन्हें मठ-जीवन में प्रशिक्षित करने लगे और विधिपूर्वक संन्यास में दीक्षित करने के बाद उन्हें 'सदानन्द' नाम दिया। सदानन्द इस घटना का स्मरण करते हुए कहा करते थे, "स्वामीजी का मिशन (कार्य) मेरे साथ ही आरम्भ हुआ।"[९]

८. विवेक-ज्योति, वर्ष १९९२ अंक १, पृ. ६८ (यह स्मृतिकथा १९१९ ई. में प्रकाशित श्री महेन्द्रनाथ चौधरी के बँगला ग्रंथ 'विवेकानन्द चरित' की भूमिका के रूप में लिखी गयी थी। फिर १९६३ ई. में रामकृष्ण मिशन शिक्षण मन्दिर, बेलूड़ के मुखपत्र 'सन्दीपन' के विशेषांक में पुनमुद्रित हुई।)

९. The Complete Works of Sister Nivedita, Calcutta, 1972, खण्ड १, पृ. ५५-५६

❑ ❑ ❑

# स्वामी अचलानन्द (५)

***स्वामी अब्जजानन्द***

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

जो भी हो, अब से अचलानन्द अविच्छिन्न रूप से कठोर तपस्या तथा ध्यान-भजन में ही डूबे दीख पड़ते हैं। प्रकट रूप से वे अब किसी अन्य कर्मक्षेत्र में नहीं उतरे। परन्तु कठोर तपस्या के फलस्वरूप उनका शरीर क्रमश: दुर्बल तथा भग्न हो गया। १९१४ ई. के बाद से अपने जीवन के बाकी दिन उन्होंने भगवद्भाव में तल्लीन होकर ही बिताये थे।

प्रसंगत: उल्लेखनीय है कि १९१० ई. के २४ अगस्त से वे रामकृष्ण मठ के एक ट्रस्टी तथा रामकृष्ण मिशन की कार्यकारिणी समिति के एक सदस्य मनोनीत हुए थे। इस दृष्टि से कहा जाय, तो अचलानन्द का शेष जीवन संघ की बृहत्तर कर्मपरिधि में – श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के परिरक्षण तथा प्रसारण के क्षेत्र में ही नियोजित हुआ था।

ऋषीकेश-स्वर्गाश्रम आदि स्थानों में उनकी तपस्या का हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं। काशी में उन्होंने काफी काल तक सेवाश्रम के निकट ही एक टीले पर रहकर निर्जन में साधन-भजन किया था। तीर्थ आदि का दर्शन करने के लिये वे कभी-कभार ही अल्प दिनों के लिये काशी के बाहर जाया करते थे। श्रीमाँ के चरण-दर्शन की इच्छा से १९१६ ई. के फरवरी में वे एक बार फिर जयरामबाटी गये थे। इस बार स्वामी विशुद्धानन्द उनके संगी थे। उस समय श्रीरामकृष्ण की तिथिपूजा निकट थी। दोनों की इच्छा थी कि माँ के सान्निध्य में रहकर ही ठाकुर की तिथिपूजा का दर्शन करें। उनकी वह इच्छा पूर्ण हुई थी। माँ के अलौकिक स्नेह की स्मृति अचलानन्द के जीवन की एक अमोल सम्पदा थी। एक दिन भोजन आदि के पश्चात् जब सभी लोग अपने-अपने कमरे में सोने जा रहे थे, तभी माँ ने किसी को भेजकर केदार बाबा तथा विशुद्धानन्द को बुला भेजा। दोनों ने जाकर देखा कि माँ दोनों हाथों में गरम दूध के गिलास लिये खड़ी हैं। संन्यासी पुत्रों को देखते ही माँ बोलीं, "पीयो।" जयरामबाटी में उस समय अनेक भक्त आये हुए थे। किसी के लिये भी दूध की व्यवस्था न हो सकी थी, पर इनके लिये दूध लेकर माँ देर रात तक प्रतीक्षा कर रही हैं – यह सोचकर ये लोग बड़े संकोच में पड़ गये। उनके संकोच का कारण समझते ही माँ ने कहा, "बेटा, वे लोग (गृही भक्तगण) तो घर में कितना सब खाते हैं, परन्तु तुम लोगों को भला कौन खिलायेगा, बोलो?" दोनों संन्यासी-सन्तान माँ की इस बात को सुनकर भावविभोर हो उठे।

अचलानन्द जहाँ कहीं भी निवास करते, वहीं एक अच्छे आध्यात्मिक परिवेश की सृष्टि हो जाती थी। साधु-ब्रह्मचारी, भक्त-जिज्ञासु – सभी को अपने-अपने भाव के अनुसार उनसे साधना-पथ का निर्देश प्राप्त होता। अपनी सभी प्रकार की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके, अपने पास आनेवाले आध्यात्म-पिपासुओं की तृष्णा मिटाने में अचलानन्द को एक दिन भी आगापीछा करते नहीं देखा गया। उनकी वार्धक्य से पीड़ित देह भी इसमें कभी बाधक नहीं हुई। संन्यासी का जीवन केवल 'आत्मनो मोक्षार्थम्' नहीं, अपितु वह 'जगद्धिताय' समर्पित है – स्वामीजी के इस आदर्श-वाक्य को स्मरण करके, उनमें जब तक दैहिक सामर्थ्य रही, तब तक वे लोगों के प्राणों में शान्ति पहुँचाने के प्रयास में लगे रहे। एक दिन उन्होंने स्वयं ही कहा था, "देखो भाई, मेरी तो अब इच्छा होती है कि एक जगह चुपचाप बैठ जाऊँ। कोई मुझे खाना दे जाय। थोड़ा-सा खाऊँगा और उनका नाम लेते हुए भाव में डूबा रहूँगा; परन्तु जहाँ भी जाता हूँ, वहीं बोलना पड़ता है। काशी में एक बार मैं कुछ दिन यह भाव लेकर रहा। सप्ताह में एक दिन मौन धारण करता था। एक टीले पर रहता था – भोजन के समय थोड़ा-सा खाकर सर्वदा उनका नाम लेते हुए तल्लीन रहता था। खैर, स्वामीजी ने कहा है – संन्यासी का जीवन दूसरों के लिये होता है। इसलिये क्या करूँगा – जब तक हूँ, महापुरुषों की बातें कहता रहता हूँ।"

अपने रुग्ण शरीर के विषय में उन्होंने स्वयं ही कई बार कहा था, "हरि महाराज (तुरीयानन्द जी) के साथ दो-ढाई साल कठोरता करने से यह शरीर टूट गया है।" परन्तु शरीर टूट जाने पर भी उनकी आत्मशक्ति इतनी प्रचण्ड थी कि उनके व्यक्तित्व के समक्ष अत्यन्त बलशाली को भी नतमस्तक होकर रहना पड़ता था। वे एक अकिंचन संन्यासी थे, तिस पर उनका टूटा हुआ शरीर – परन्तु संन्यासी के लिये विहित अपरिग्रह का आदर्श उन्होंने आजीवन अक्षरश: पालन किया था। उनका संकल्प था, "किसी के भी सामने हाथ नहीं फैलाऊँगा।" परन्तु आश्चर्य की बात है कि उनका 'योगक्षेम' मानो स्वयं भगवान ही वहन करते थे। उन्हें देखकर गीता में दिये गये भगवान के आश्वासन पर यथार्थ रूप से विश्वास हो जाता था। एक बार काशी के एक ब्रह्मचारी ने

बेलूड़ मठ में जाकर महापुरुष महाराज को बताया कि केदार बाबा बड़े कष्ट में हैं, उनका संकल्प है कि वे किसी के सामने हाथ नहीं फैलायेंगे। महापुरुष जी सब सुनने के बाद बोले, "नहीं, उसका सब ठीक हो जायेगा। अब उसे कष्ट नहीं होगा।" यह १९३२ ई. की बात है। इसके बाद सचमुच ही केदार बाबा की सेवा के लिये विभिन्न अप्रत्याशित स्रोतों से यथावश्यक धन तथा अन्य सारी व्यवस्था हो गयी। एक बार उनके सेवक के अन्यत्र चले जाने पर स्वामी सारदानन्द जी ने कहा था, "तुम जरा भी चिन्ता मत करो। तुम्हारा काम ठीक-ठीक चलेगा। देखोगे कि तुम्हारा काम भूत आकर कर जायेगा।" अचलानन्द इन समस्त आशीर्वादों को स्मरण करते हुए कहते थे, "सचमुच ही अब वैसा ही देख रहा हूँ।"

१९३८ ई. के नवम्बर से अचलानन्द जी ने रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष का पद अलंकृत किया। संघ के इतने उच्च आसन पर अधिष्ठित होकर भी उनकी त्याग-तपस्यामय जीवन-शैली और सहज-मधुर व्यवहार छोटे-बड़े सभी को समान रूप से आकृष्ट किया करती थी। उनके सीधे-सादे अनाडम्बर आचरण के पीछे जो प्रचण्ड पौरुष-व्यंजक व्यक्तित्व विराजित था, उसके सम्पर्क में तरुण या वृद्ध जो कोई भी आता, उसी की जीवन-गति में परिवर्तन हो जाता। इसीलिये इन पितामह तुल्य वृद्ध तपस्वी को संघ के नवीन साधु तथा आदर्शवादी युवकगण सर्वदा ही अपना परम मित्र, बुद्धिदाता तथा पथ-प्रदर्शक (a friend, philosopher, and guide) मानते थे। इस प्रसंग में एक स्मृतिचित्र प्रस्तुत है –

एक उच्चशिक्षित उद्यमी युवक को एक बार सूचना मिली कि स्वामीजी के एक साक्षात् शिष्य स्वामी अचलानन्द अब भी बेलूड़ मठ में विद्यमान हैं। युवक उनका दर्शन करने को खूब उत्साही हो उठा – वह अभी हाल ही में रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के सम्पर्क में आया था। वह कलकत्ते के एक विशिष्ट कॉलेज का छात्र था। मठ में आकर उसे पता चला कि केदार बाबा 'लेगेट हाउस' में रहते हैं। पर उस भवन में जाकर इधर-उधर ढूँढ़ने पर उसे कहीं भी मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष दिखायी नहीं दिये। उसने देखा कि एक कौपीनधारी वृद्ध साधु – लम्बे किन्तु दुबले-पतले, गले से लटकती दो रुद्राक्ष की मालाएँ – दोनों हाथों से अपने कन्धे पर एक मोटा तौलिया पकड़े हुए टहल रहे हैं। ऐसा लग रहा था मानो वे स्नान के लिये जाने की तैयारी कर रहे थे। उत्सुक युवक ने नि:संकोच उन वृद्ध संन्यासी के पास जाकर पूछा – पूजनीय उपाध्यक्ष महाराज – केदार बाबा किस कमरे में रहते हैं? परन्तु उसे तत्काल कोई उत्तर नहीं मिला। मेधावी तरुण के जिज्ञासु नेत्रों की ओर स्नेहपूर्वक देखते हुए संन्यासी ने उलटे प्रश्न किया, "तुम कहाँ रहते हो भाई? किसलिये आये हो?" आदि आदि। उस युवक को परम आत्मीय के समान 'भाई' कहकर अपनाने के बाद वृद्ध ने उसे कमरे के भीतर ले जाकर बैठाया। युवक इस पर विस्मित और अवाक् रह गया – एक ऐसे वयस्क संन्यासी उसके जैसे एक नगण्य तरुण को गले से लगाकर 'भाई' के रूप में सम्बोधित कर रहे हैं। वृद्ध संन्यासी युवक का नीचे से ऊपर तक बड़े स्नेहपूर्वक निरीक्षण कर रहे थे। सहसा उन्होंने उसके दोनों हाथ पकड़ लिये और अत्यन्त करुण आग्रह के स्वर में बोले, "भाई, कितने जन्म चले गये – क्या एक जीवन स्वामीजी के लिये नहीं दे सकोगे? क्या एक जन्म स्वामीजी के कार्य में, उनकी सेवा में अर्पित नहीं कर सकोगे? स्वामीजी ने भारत के युवकों का कितना आह्वान किया है – वे चाहते थे कि युवक इस आदर्श के पथ पर चलें। नहीं कर सकोगे भाई? क्या होगा, दे डालो एक जीवन उनके कार्य में, उनकी सेवा में।"

कॉलेज में शिक्षित वह आधुनिक युवक वृद्ध का आग्रह देखकर चकित रह गया। स्वामीजी के आह्वान को स्वीकार किया या नहीं किया, इससे इन साधु का क्या बनता-बिगड़ता है! बारम्बार उस एक ही भाव का आवेगपूर्ण निवेदन, "नहीं कर सकोगे भाई, केवल एक जीवन स्वामीजी के लिये उत्सर्ग नहीं कर सकोगे? कितने ही जन्म तो इसी प्रकार निकल गये! आओ, चले आओ – स्वामीजी ने तुम्हीं लोगों को चाहा है, बारम्बार पुकारा है। आओ भाई, चले आओ।" उन जीर्ण शरीर वाले वृद्ध के नेत्रों से उस समय एक अद्भुत ज्योति विकिरित हो रही थी। ऐसा हार्दिक अनुरोध क्या कभी निरर्थक जा सकता था? सचमुच ही उस दिन वह युवक इन सरल प्रेमिक साधु के स्नेहपूर्ण आह्वान को स्वीकार किये बिना नहीं रह सका। उसने यह भी समझ लिया कि ये वृद्ध ही स्वामीजी के शिष्य और रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष अचलानन्द जी हैं, जिनकी खोज में वह आया था।

उनके जीवन-वृत्तान्त से उपरोक्त घटना के समान ही और भी अनेक घटनाएँ उद्धृत की जा सकती हैं, जिनसे सहज ही समझा जा सकता है कि वे कितने महान् थे; और इतने महान् थे इसीलिये अपने समीप आने वाले क्षुद्र नगण्य व्यक्ति को भी अपने स्नेह-प्रेम के द्वारा आकृष्ट करके उसके अन्दर प्रसुप्त शक्ति को जाग्रत कर देते थे। वे स्वयं ही मन-प्राण से विश्वास करते थे कि विराट् रामकृष्ण संघ प्रेम के द्वारा ही गठित है। प्रसंगवश, १९४६ ई. में बेलूड़ मठ में आयोजित संघ के त्रैवार्षिक साधु-सम्मेलन में उनके द्वारा पठित अभिभाषण का कुछ अंश खूब विचारणीय है –

"श्रद्धा और प्रेम ही इस संघ की आधारशिला है। पूजनीय महापुरुष जी कहते थे, 'ठाकुर ने हम लोगों को प्रेम करके एकत्र किया था और इस प्रेम के बन्धन से ही यह विराट् संघ गठित हुआ है। जब तक यह बन्धन अटूट रहेगा, तब तक

संघ भी सुन्दर रूप से चलता रहेगा।' मैं अपनी स्वयं की बात ही कहता हूँ – विवेक-वैराग्य की प्रेरणा से उतना नहीं, बल्कि स्वामीजी तथा अन्य महाराज लोगों के अलौकिक प्रेम के आकर्षण से ही हम लोग घर-द्वार छोड़कर यहाँ आ सके हैं और उस प्रेम पर मुग्ध होकर ही उनके चरणों में पड़े हुए हैं। मुझे नहीं लगता कि इस विषय में मेरा किसी से कोई मतभेद है।... यदि हम लोग एक-दूसरे के साथ श्रद्धा-प्रेम के भाव की रक्षा नहीं कर सके, तो निकट भविष्य में इसका विषमय फल अवश्यम्भावी है। संघ का प्रबन्ध केवल कठोर नियम-कानून की जगह प्रेम के द्वारा होना ही वांछनीय है। नहीं तो सेवकों में असन्तोष तथा अप्रीति-भाव की वृद्धि होती है, आपस में प्रभु-भृत्य का भाव आ जाता है और कर्म – साधना का अंग न होकर, कठोर नीरस कर्तव्य में परिणत हो जाता है; फिर कर्म-योग की जगह कर्म-भोग मात्र होता है।... इसीलिये मठ-मिशन के संचालकों और शाखा-केन्द्रों के अध्यक्षों तथा प्रबन्धकों से मेरा हार्दिक अनुरोध है कि वे लोग नियम-कानूनों के साथ ही प्रेमभाव के द्वारा समस्त कार्यों का संचालन करें और सामान्य सेवकों से भी मैं विशेष रूप से अनुरोध करता हूँ कि वे लोग भी अपने गुरुजनों के प्रति यथोचित श्रद्धावान होकर, समस्त कामकाज ठाकुर-स्वामीजी का है – इसी भाव को सर्वदा मन में रखकर अपना-अपना कार्य सम्पन्न करें। इसी से हमारा जीवन मधुमय होगा और संघ भी सुचारु तथा सुन्दर रूप से चलेगा।''

केदार बाबा को देखने पर वे श्रद्धा तथा प्रेम की ही प्रतिमूर्ति प्रतीत होते थे। जैसे जिज्ञासु भक्तों के प्रति, वैसे ही संघ के साधु-ब्रह्मचारियों के प्रति उनकी स्नेहपूर्ण सतर्क दृष्टि सदैव जाग्रत रहती थी। नवीन साधु-ब्रह्मचारियों को वे इसी भाव पर जोर देकर बारम्बार कहते कि निष्काम कर्म के साथ-साथ निष्ठापूर्वक साधन-भजन किये बिना अध्यात्म-पथ पर चलना बड़ा जोखिम-भरा है। इसी प्रसंग में उनकी स्मरणीय उक्ति है – ''आध्यात्मिकता ही संघ की प्राणशक्ति है। पूज्यपाद स्वामीजी 'आत्मनो मोक्षार्थम्' तथा 'जगद्धिताय' इस संघ की स्थापना कर गये हैं। ठाकुर ने कहा है, 'भगवान को पाना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है।' कर्म कभी उद्देश्य नहीं हो सकता – कर्म एक उपाय मात्र है। स्वामीजी कर्म के बारे में बोलते थे, परन्तु सर्वदा नियमित रूप से जप-ध्यान करने को उत्साहित करते थे।... पूजनीय महाराज कहते थे, 'ध्यान-जप का महत्त्व अतीत में भी था, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा। ध्यान-जप को छोड़कर कभी ठाकुर-स्वामीजी के आदर्शानुसार कार्य नहीं किया जा सकता। कर्म और उपासना को एक साथ चलाना होगा।' इस प्रकार हमारे गुरु-स्थानीय सभी लोग कर्म के साथ-साथ विधिवत साधन-भजन की बात भी कह गये हैं और हम लोग भी यह बात अपने प्राणों में समझते हैं।... आप सभी श्रीरामकृष्ण की आश्रित सन्तान हैं। जिस उद्देश्य को लेकर – माता-पिता को रुलाकर और घर-द्वार छोड़कर आये हैं, बाह्य ऐश्वर्य तथा चकाचौंध या कर्म-कोलाहल में उस उद्देश्य को भूल मत जाइयेगा। आदर्श की उपलब्धि के लिये दृढ़ निश्चय तथा पूरे प्रयत्न के साथ अपने प्राण तक की बाजी लगा दीजिये। 'मंत्र की सिद्धि या फिर देह का पतन' – इसी भाव को लेकर अदम्य उत्साहपूर्वक ठाकुर-स्वामीजी के आदर्श को सामने रखकर आगे बढ़ना होगा। श्री प्रभु आपके सहायक हों।''[१]

समस्या-जर्जरित गृही भक्तों के प्रति उनके उपदेशों में भी हमें वह एक ही सुर सुनाई देता है। संसार के विभिन्न प्रकार के आघात-प्रतिघातों के बीच, कहीं कोई अपने जीवन के मूल लक्ष्य को न भूल जाय, इसी बात के लिये वे सर्वदा सावधान किया करते थे। केवल इतना ही नहीं, उनकी उन उक्तियों में हमें संसार को एक नवीन दृष्टि से देखने की शिक्षा भी प्राप्त होती है। १९४४ ई. में, जब सम्पूर्ण देश में अकाल के काले बादल छाये हुए थे, तब केदार बाबा ने एक गृही भक्त को एक पत्र में लिखा था, ''कलकत्ते में अन्नसंकट की बात जानकर बड़ा दु:ख होता है। बंगाल चावल की जन्मभूमि है – वहीं पर ऐसी दुरवस्था ! सचमुच ही यह सब महामाया की इच्छा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मनुष्य का मन जितना ही बहिर्मुखी तथा भोगमुखी होता है, उतना ही वे कठोर से कठोरतर आघात देकर उस मन को अपने चरणों में लौटा लाने का सुयोग देती हैं। जो इस बात को समझकर आत्म-समर्पण कर देता है, वह आनन्द में डूब सकता है। परन्तु जो अहंबुद्धि से प्रतिकार करना चाहता है और शिकवे-शिकायत करता रहता है, उसके दु:ख बढ़ते ही जाते हैं। सुख के समान दु:ख भी दीर्घ काल तक नहीं रहता, अत: बुद्धिमान व्यक्ति दोनों अवस्थाओं में विचलित न होकर, अपनी पूरी शक्ति से जगदम्बा के चरण पकड़े रहता है। ... शरणागत हो जाओ – तो कोई चिन्ता नहीं रह जायगी। उन्हीं की इच्छा से सब हो रहा है – इसी बात का ठीक-ठीक अनुभव करो – इसी से हो जायगा।'' ❖ **(क्रमश:)** ❖

१. बेलूड़ मठ में १९४६ ई. में आयोजित संघ के त्रैवार्षिक साधु-सम्मेलन में स्वामी अचलानन्द जी द्वारा पठित अभिभाषण से उद्धृत।

# कर्मयोग – एक चिन्तन (१७)

*स्वामी सत्यरूपानन्द*

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

गीता के तृतीय अध्याय के १९ वें श्लोक में भगवान पुन: अर्जुन को साधना का आदेश दे रहे हैं। गीता में प्राय: हमको तीन तरह के श्लोक मिलेंगे।

(१) घटनात्मक – जैसे प्रथम अध्याय में है। इसमें संजय धृतराष्ट्र से क्या कह रहे हैं, दुर्योधन ने क्या कहा, किसने किससे क्या कहा, सेनाओं का वर्णन, सेनापतिओं का वर्णन है।

(२) सैद्धान्तिक – जैसे दूसरे अध्याय में है। इसमें भगवान ने शाश्वत सिद्धान्तों की चर्चा की है, जो गीता का प्राण है। जैसे भगवान ने कहा – आत्मा कैसी है? –

**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक:**
**न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत: ।।(२/२३)**

हे अर्जुन, इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गिला नहीं कर सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकता। यह सिद्धान्त है। इसमें न तो कोई घटनाओं का वर्णन है और न ही कोई आदेश है। इसमें केवल सत्य का निरूपण है। जैसे –

**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय**
**नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।**
**तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-**
**न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। २/२२**

यदि हम अंग्रेजी में कहें, तो ये – Statement of fact हैं या Basic principals of life जीवन के मूल सिद्धान्त हैं।

(३) आदेशात्मक – इसमें भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को आदेश देते हैं। संस्कृत में आज्ञात्मक अर्थ में है कि ऐसा करो। जैसे भोजनं कुरु – भोजन करो, पत्रं लिखस्व – पत्र लिखो, यह आदेशात्मक है। उसी प्रकार भगवान कहते हैं तस्मात् उत्तिष्ठ – उठो। युद्ध करो।

जो घटनात्मक श्लोक हैं, वे भूमिकात्मक हैं, वे गीता को समझने में उपयोगी हैं। जो सिद्धान्त हैं, वे मननीय हैं, इन पर ध्यान करना चाहिए। तृतीय प्रकार के जो आदेशात्मक श्लोक हैं, उनका जीवन में आचरण करना चाहिए।

भगवान अर्जुन को आदेशात्मक ढंग से कह रहे हैं –

**तस्मादसक्त: सततं कार्यं कर्म समाचर ।**
**असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुष: ।। ( ३/१९ )**

हे अर्जुन, इसलिए तुम निरन्तर अनासक्त होकर कर्तव्य-कर्म का भलीभाँति आचरण करो, क्योंकि आसक्ति रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त होता है।

जिन कर्मों को करना, हमारा कर्तव्य है, वे अवश्य करणीय हैं, उन्हें भलीभाँति अच्छी तरह से अनासक्त होकर करना चाहिये। आज के युग में दुर्भाग्य से यह दिखता नहीं है। घर में जो वरिष्ठ लोग हैं, बूढ़े लोग हैं या बहुत छोटे बच्चे हैं, उनकी सेवा सबको करनी चाहिए, यह कर्तव्य कर्म है। इस साधना से इसी जीवन में सिद्धि मिल सकती है। और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। असक्त: आचरन् कर्म परम आप्नोति पुरुष: – पुरुष माने व्यक्ति स्त्री-पुरुष दोनों ही, आसक्ति रहित, किसी भी प्रकार के लगाव से मुक्त होकर कर्म करें। ऐसा कर्म अगर हम जीवन पर्यन्त कर सकें, तो जीवनमुक्त हो सकते हैं। इसी जीवन में भगवान की प्राप्ति, आत्मा और परमात्मा की एकता की अनुभूति, या दु:खों की आत्यंतिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति, जो भी हम कह लें, हमें हो सकती है।

अर्जुन ने भगवान की बातों को सुन लिया। उन्हें लगा होगा कि भगवान जो सिद्धान्त हमें बता रहे हैं, वह सुनने में तो अच्छा है, पर क्या ऐसा कोई उदाहरण है, जिससे हमें प्रेरणा मिले? भगवान परम मनोवैज्ञानिक हैं। वे तत्काल आगे के श्लोक में अर्जुन के सामने उदाहरण बता रहे हैं –

**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय: ।**
**लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।। ३/२०**

हे अर्जुन देखो, जो सिद्धान्त मैंने तुझे बताया, उन्हीं सिद्धान्तों का जीवन में आचरण कर जनक आदि राजाओं ने सिद्धि प्राप्त की। केवल जनक ही नहीं, आदि शब्द से भगवान बता रहे हैं कि और भी कई लोग जिनका पुराणों में नाम है, जिन्होंने निष्काम कर्म के द्वारा सिद्धि प्राप्त की थी। उनलोगों ने दूसरी कोई साधना नहीं की थी, केवल निष्काम कर्म ही उन लोगों ने किया था। महाभारत में इसके उदाहरण हैं। यहाँ हम उसकी चर्चा नहीं करेंगे।

भगवान ने २०वें श्लोक में दो तथ्यों को हमारे सामने रखा है। पहला अर्जुन के पूर्व ऐसे कर्मयोगी हो गये हैं, जिन्होंने कर्मों के द्वारा सिद्धि प्राप्त कर ली है। अर्थात् जीवन मुक्ति प्राप्त की है। वे जीवन में सभी प्रकार की अशान्ति से मुक्त हो गये। दूसरा आधुनिक युग में लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, स्वामी विवेकानन्द, पवहारी बाबा आदि ये सभी कर्मयोगी हैं। हमारे आपके युग में ऐसे लोग हो गये हैं, उनसे हम प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं।

दूसरी बात भगवान हमें बताते हैं, जैसे छोटे बच्चों को दिखाकर समझाया जाता है। जैसे छोटे बच्चों को बड़े लोग कहते हैं कि तुम स्कूल जा रहे हो, किन्तु देखो, तेरे नाखून इतने बड़े हो गये हैं ! अपने मित्र को देखो, उसने अपने नाखून कटवा लिए हैं और वह कितना अच्छा दिखता है। तुम भी अपने नाखून कटवा लो, तो तुम भी अच्छे दिखोगे। इस प्रकार माँ ने एक आदर्श उस बच्चे के सामने रखा और वह नाखून कटवाने के लिये तैयार हो गया। एक आदर्श देखकर उसे प्रेरणा मिली।

ठीक इसी प्रकार भगवान ने जनक आदि का कर्मयोग का आदर्श रखकर हमें कर्मयोग की प्रेरणा प्रदान की।

अब दूसरी बात यह है कि हमें अपने विवेक और भावना से प्रेरणा मिलनी चाहिए। विवेक के द्वारा भावना को नियंत्रित करना है। भावना से विवेक प्रभावित न हो और विवेक से भावना नियंत्रित रहे।

भगवान कहते हैं – लोकसंग्रह संपश्यन्। इसका अर्थ होता है – लोक कल्याण को देखते हुए। संग्रह करना माने सिर्फ जमा करना नहीं होता है। उसका अर्थ जोड़ना भी होता है। समाज टूट रहा है, विभिन्न कारण से समाज बिखर रहा है, तो उस समाज को एक उच्च आदर्श दिखाकर जोड़ना, जिससे लोककल्याण हो। 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की यह जो भावना है, वह लोकसंग्रह की भावना है। यह लोक-कल्याण की भावना है, इसलिए करना है।

हम जीवन में ऐसा कोई भी कार्य न करें, जिससे समाज बिखरे या टूटे। समाज क्यों विखरता है? मनुष्य की बुरी आदतों और बुरे संग के कारण ऐसा होता है। बुरी आदतों से व्यक्ति को नुकसान हो ही रहा है। किसी को धूम्रपान की आदत लग गयी। सरकार इतना प्रचार कर रही है, दंड का भी विधान है कि सार्वजनिक स्थानों पर आप धूम्रपान नहीं कर सकते, किन्तु लोग सरकारी आदेशों की अवहेलना कर देते हैं, जिससे उनकी ही क्षति होती है। हम सरकार के कानून की ओर न देखें, अपना कर्तव्य निर्धारित करें। गीता से शिक्षा लेकर हम अपना कर्तव्य-पालन करें कि यदि मैं सार्वजनिक स्थानों में, जहाँ लोग हैं, वहाँ धूम्रपान करूँगा, तो दूसरों को भी ध्रूमपान करने की बुरी आदत लग सकती है, बीमारी हो सकती है, दूसरों को कष्ट हो सकता है। इस प्रकार विचार कर हम स्वयं को सुधार कर लोक-कल्याण कर सकते हैं।

लगभग ६५ साल पहले की बात है। वहाँ एक प्रधान अध्यापक थे। वे धूम्रपान करते थे। किन्तु हम सब विद्यार्थी जो उस स्कूल में पढ़े, लम्बे समय तक हममें से किसी ने उनको धूम्रपान करते देखा नहीं, केवल सुनते थे। वे ज्योंहि स्कूल के लिये निकलते थे, सात घंटे तक किसी भी सार्वजनिक स्थान में उन्हें धूम्रपान करते देखा नहीं गया। यद्यपि अकेले भी धुम्रपान करना ठीक नहीं है, किन्तु हमें लोकसंग्रह के लिये यह ध्यान रखना चाहिए कि हमसे कोई अनुचित आचरण न हो। यह हमारा कर्तव्य है। कर्तव्य के संदर्भ में एक घटना मुझे याद आ रही है।

एक बार कुछ संन्यासी तथा ब्रह्मचारी एक शहर से दूसरे शहर में गये। मान लीजिये छपरा से वाराणसी आये। उस समय रेलगाड़ी में अधिक चेकिंग नहीं होती थी। संन्यासियों के दल में एक भक्त थे। वे भी वाराणसी स्टेशन में उतरे। सबके साथ वे भी बाहर निकल गये। सबके पास टिकट था। अब वे भक्त स्वामीजी से कहने लगे कि, महाराज मुझे भी वाराणसी आना था, किन्तु घर से देरी से आने के कारण मैं टिकट नहीं ले सका। जब मैं स्टेशन पर आया, तब गाड़ी छूट रही थी। किसी तरह दौड़कर गाड़ी में चढ़ गया, टिकट नहीं ले पाया।

सामान्य स्थिति में हम लोग क्या करते? अरे, हम बीस लोगों के पास तो टिकट है ही, तुम एक बिना टिकट आ गये, तो क्या हुआ। लेकिन कर्तव्यनिष्ठ स्वामीजी ने उन भक्त को कहा, तुम अभी तुरन्त टिकट काऊन्टर पर जाओ और वाराणसी से छपरा का टिकट खरीदो। तब तक ये स्वामीजी अपने दल के साथ स्टेशन के बाहर प्रतीक्षा कर रहे थे। वे टिकट खरीदकर लाये। स्वामीजी ने कहा कि उसे फाड़कर फेंक दो। यह है कर्तव्य-बोध ! आपको जाकर किसी को बताना आवश्यक नहीं है कि आपने ऐसा किया है। यह लोक-शिक्षा है, लोक-संग्रह है। यह कैसे हुआ? स्वामीजी ने उस भक्त के सुषुप्त नैतिक-बोध, कर्तव्य-बोध की चेतना को जागृत किया। तब उस भक्त के मन में पीड़ा हुई कि एक स्वामीजी के साथ मैं जा रहा हूँ। मुझे ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये, जिससे मानवीय मार्यादा, कर्तव्य-बोध और महान् पुरुष के सान्निध्य की गरिमा की अवहेलना हो।

कर्मयोग की साधना करनेवाले हर साधक को सतत् सावधानी रखनी चाहिए कि हमारे जीवन में ऐसा, कोई कर्म न हो जाय, जिससे लोकसंग्रह में बाधा हो, कर्मयोग दूषित हो। हमें ऐसा कर्म नहीं करना चाहिए। भगवान कहते हैं – यद् यद् आचरति श्रेष्ठ: – श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करते हैं, उसे देखकर दूसरे लोग भी वैसा आचरण करते हैं। अत: प्रत्येक साधक-साधिका के ऊपर एक बड़ा दायित्व आता है। जब लोग जानते हैं कि आप नैतिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं, तब आप एक आदर्श उनके सामने उपस्थित करते हैं। आप चाहें या न चाहें लोग आपको एक आदर्श व्यक्ति मानते हैं। ❖ **(क्रमश:)** ❖

# कठोपनिषद्-भाष्य (२९)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

**द्वितीयोध्याय: – तृतीया वल्ली**

**तूल-अवधारणेन एव मूल-अवधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथा, एवं संसार-कार्य-वृक्ष-अवधारणेन तत्-मूलस्य ब्रह्मण: स्वरूप-अवदिधारयिषा-इयं षष्ठी वल्ली आरभ्यते –**

संसार में जैसे रूई को देखकर उसके वृक्ष के जड़ का निश्चय कर लिया जाता है, उसी प्रकार कार्य-रूप इस संसार-वृक्ष की धारणा के द्वारा उसके कारण अर्थात् जड़-रूप ब्रह्म के स्वरूप का निर्धारण कराने की इच्छा से यह छठी वल्ली आरम्भ की जाती है।

**ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ: सनातन:।**
**तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।**
**तस्मिँल्लोका: श्रिता: सर्वे तदु नात्येति कश्चन।।**
**एतद्वै तत्।। २/३/१ (१०२)**

**अन्वयार्थ** – **एष:** यह (संसार-रूप) **सनातन:** अनादि **अश्वत्थ:** अश्वत्थ वृक्ष **ऊर्ध्व-मूल:** ऊपर की ओर मूलवाला, विष्णुपद से उद्भूत (तथा) **अवाक्-शाख:** नीचे की ओर फैली शाखाओं वाला है, **तत् एव** वही **शुक्रम्** शुद्ध, ज्योतिर्मय **तत् ब्रह्म** वही ब्रह्म (और) **तत् एव** वही **अमृतम्** अविनाशी **उच्यते** कहलाता है; **तस्मिन्** उसी में **सर्वे** सारे **लोका:** लोक **श्रिता:** आश्रित हैं; **तत् उ** उसका **क: चन** कोई भी **न अत्येति** अतिक्रम नहीं कर सकता। **एतत् वै तत्** यही तुम्हारे द्वारा जिज्ञासित आत्मा है।

**भावार्थ** – (संसार-वृक्ष का वर्णन करते हुए उसके जड़-रूप ब्रह्म के स्वरूप-निर्धारण हेतु यह वल्ली आरम्भ की जा रही है।) यह (संसार-रूप) अनादि अश्वत्थ वृक्ष ऊपर की ओर मूलवाला, विष्णुपद से उद्भूत (तथा) नीचे की ओर फैली शाखाओं वाला है, वही शुद्ध, ज्योतिर्मय वही ब्रह्म (और) वही अविनाशी कहलाता है; उसी में सारे लोक आश्रित हैं; उसका कोई भी अतिक्रम नहीं कर सकता। यही तुम्हारे द्वारा जिज्ञासित आत्मा है।

**भाष्यम् – ऊर्ध्वमूल ऊर्ध्वं मूलं यत् तत्-विष्णो: परमं पदम् अस्य इति स: अयम् अव्यक्त-आदि-स्थावर-अन्त: संसार-वृक्ष ऊर्ध्वमूल:। वृक्ष: च व्रश्चनात्।**

**भाष्य-अनुवाद** – विष्णु का परम पद वह है, जिसका मूल (जड़ें) ऊपर की ओर है। अव्यक्त से आरम्भ करके स्थावर (अचर) तक – यह ऊर्ध्वमूल वाला संसार-वृक्ष है। इसे काटा जा सकता है, इसलिये इसे वृक्ष कहते हैं।

**जन्म-जरा-मरण-शोक-आदि-अनेक-अनर्थात्मक: प्रतिक्षणम्-अन्यथा-स्वभावो – माया-मरीचि-उदक-गन्धर्वनगर-आदिवत्-दृष्ट-नष्ट-स्वरूपत्वात् अवसाने च वृक्षवत्-अभावात्मक: –**

यह (संसार) जन्म, वार्धक्य, मृत्यु, शोक आदि अनेक दोषों से परिपूर्ण है; माया (जादू), मरीचिका के जल, (आकाश में) गन्धर्वनगरी आदि के समान प्रतिक्षण बदलने वाला और देखते-ही-देखते नष्ट हो जाने के स्वरूप वाला तथा अन्तत: वृक्ष के समान विनष्ट हो जानेवाला है;

**कदली-स्तम्भवत्-नि:सार: – अनेक-शत-पाखण्डबुद्धि-विकल्प-आस्पद: – तत्त्व-विजिज्ञासुभि: अनिर्धारित-इदं-तत्त्वो – वेदान्त-निर्धारित-परब्रह्म-मूलसार: –**

यह केले के वृक्ष के समान सारहीन है; यह शंकालु लोगों की बुद्धि में सैकड़ों प्रकार की शंकाएँ पैदा करनेवाला है; जो तत्त्व-जिज्ञासुओं द्वारा 'यह' के रूप में निर्धारित नहीं किया जा सका है; परब्रह्म रूपी जड़ में ही जिसका सार निहित है;

**अविद्या-काम-कर्म-अव्यक्त-बीज-प्रभव: – अपर-ब्रह्म-विज्ञान-क्रियाशक्ति-द्वयात्मक-हिरण्यगर्भ-अङ्कुर: –**

यह अविद्या, काम, कर्म तथा अव्यक्त के बीज से उत्पन्न होनेवाला; ज्ञान तथा क्रिया – इन दो शक्तियों वाला हिरण्यगर्भ अर्थात् अपर-ब्रह्म इसका अंकुर है;

**सर्व-प्राणि-लिङ्गभेद-स्कन्ध: – तत् तृष्णा-जल-अवसेक-उद्भूत-दर्प: – बुद्धि-इन्द्रिय-विषय-प्रवाल-अङ्कुर: – श्रुति-स्मृति-न्याय-विद्योपदेश-पलाशो – यज्ञ-दान-तप-आदि-अनेक-क्रिया-सुपुष्प: – सुख-दु:ख-वेदना-अनेकरस: – प्राणि-उपजीव्य-अनन्त-फल: –**

समस्त प्राणियों के विभिन्न सूक्ष्म शरीर इसका तना है; यह तृष्णा (कामना) रूपी जल से सिंचित होकर तेजी से बढ़नेवाला है; इसमें बुद्धि, इन्द्रियाँ, विषय रूपी कोमल पल्लव अंकुरित हो रहे हैं; यह श्रुति (वेद), स्मृति, न्याय, विद्योपदेश-रूपी पत्तोंवाला है; यह यज्ञ, दान, तप आदि अनेक क्रियाओं

रूपी सुन्दर पुष्पों से भरा हुआ है; यह सुख, दु:ख, वेदना आदि विभिन्न रसोंवाला है; यह प्राणियों के जीवन-धारण हेतु अनन्त फलोंवाला है;

**तत्-तृष्णा-सलिल-अवसेक-प्ररूढ़-जड़ीकृत-दृढबद्ध -मूलः – सत्य-नाम-आदि-सप्तलोक-ब्रह्मादि-भूत-पक्षिकृत-नीडः – प्राणि-सुख-दुःख-उद्भूत-हर्ष-शोक-जात-नृत्य-गीत वादित्र-क्ष्वेलिता-स्फोटित-हसिता-क्रुष्ट-रुदित-हाहा-मुञ्च-मुञ्च-इत्यादि अनेक-शब्द-कृत-तुमुलीभूत-महारवो –**

यह (उन फलों की) तृष्णा रूप जल से सिंचित होकर, (सात्त्विक आदि भावों के साथ) आपस में मिलकर गहराई तक घुसकर दृढ़मूल है; यह सत्यलोक आदि सात लोकों वाला है, जिसमें ब्रह्मा से लेकर समस्त जीव-रूपी पक्षियों ने अपना घोसला बना रखा है; इसमें प्राणियों के सुख-दुख से उत्पन्न हर्ष-शोक के फलस्वरूप नृत्य, गीत, वाद्य, क्रीड़ा, (पहलवानों के) जंघा ठोकने की ध्वनि, हास्य, खींचना, रोना, 'हाय-हाय', 'छोड़ो, छोड़ो' आदि अनेक प्रकार के तुमुल शब्दों द्वारा उत्पन्न शोरगुल वाला है;

**वेदान्त-विहित-ब्रह्मात्म-दर्शन-असङ्ग-शस्त्रकृत-उच्छेद एष संसार-वृक्षो अश्वत्थो अश्वत्थवत् काम-कर्म-वात-ईरित-नित्य-प्रचलित-स्वभावः – स्वर्ग-नरक-तिर्यक्-प्रेत-आदिभिः शाखाभिः अवाक्शाखः सनातनः अनादित्वात् चिरं प्रवृत्तः ।**

वेदान्त द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व अनुभूति से उत्पन्न असंगता रूपी शस्त्र से कटनेवाला – ऐसा यह अश्वत्थ नामक संसार-वृक्ष – कामना तथा कर्म रूपी वायु से हिलता हुआ प्रतिक्षण चंचल स्वभाव वाला है; स्वर्ग, नरक, तिर्यक्, प्रेतलोक आदि शाखाओं वाला है; इसका कोई आदि न होने से चिरकाल से चला आ रहा है, अत: सनातन है।

**यत् अस्य संसार-वृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मत् चैतन्य-आत्मज्योतिः-स्वभावं तदेव ब्रह्म सर्व-महत्त्वात्। तदेव अमृतम् अविनाश-स्वभावम् उच्यते कथ्यते सत्यत्वात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् अनृतम् अन्यत् अतः मर्त्यम्।**

इस संसार-वृक्ष का मूल है, वही श्वेत, शुद्ध ज्योतिर्मय चैतन्य-रूप आत्मज्योति है और सबकी अपेक्षा महान् होने के कारण वही ब्रह्म है। अविनाशी स्वभाव वाला तथा सत्य होने से उसी को अमृत कहते हैं। बाकी सभी के मरणशील होने से उन्हें असत्य कहते हैं – (वे) 'वाणी पर निर्भर केवल नाम मात्र के लिये अस्तित्व वाले हैं।' (छान्दोग्य. ६/१/४)।

**तस्मिन् परमार्थ-सत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगर-मरीचि-उदक-माया-समाः परमार्थ दर्शन-अभाव-अवगमनाः श्रिता आश्रिताः सर्वे समस्ता उत्पत्ति-स्थिति-लयेषु। तदु तद् ब्रह्म नात्येति न अतिवर्तते मृदादिम् इव घटादि-कार्यं कश्चन कश्चित् अपि विकारः। एतद्वै तत्।। २/३/१ (१०२)।।**

(आकाश में स्थित) गन्धर्वनगरी, मरीचिका के जल, जादू के समान समस्त लोक, जो परम सत्य का दर्शन होने पर लुप्त हो जाते हैं; ये सभी सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय के दौरान उसी ब्रह्म-रूपी पारमार्थिक सत्य में आश्रित हैं। जैसे कोई भी घट आदि कार्य (अपने उपादान कारण) मिट्टी का अतिक्रमण नहीं कर सकता, वैसे ही ब्रह्म का कोई भी विकार उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही वह तत्त्व है।

* * *

**यत्-विज्ञानात् अमृता भवन्ति इति उच्यते जगतो मूलं तत् एव न अस्ति ब्रह्म, असतः एव इदं निःसृतम् इति। तत् न –**

ऐसा कहा जा सकता है कि ब्रह्म रूपी जो संसार का जड़ है, जिसके ज्ञान से लोग अमर हो जाते हैं, उसका अस्तित्व नहीं है और असत् से ही यह (जगत्) प्रकट हुआ है। (परन्तु) ऐसी बात नहीं है, क्योंकि –

**यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।**
**महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।। २/३/२**

**अन्वयार्थ** – **इदम्** यह **यत् किम् च** जो कुछ भी **जगत्** गतिशील संसार है, **सर्वम्** वह सब **प्राणे** परब्रह्म की सत्ता से ही **निःसृतम्** निकल कर **एजति** प्राणवान होता है, (वह जगत्-कारण ब्रह्म) **उद्यतम् वज्रम्** (प्रहार को) उद्यत वज्र के सदृश **महत् भयम्** अति भयंकर है। **ये** जो लोग **एतत्** इस ब्रह्म को **विदुः** जान लेते हैं, **ते** वे **अमृताः** अमर **भवन्ति** हो जाते हैं।

**भावार्थ** – यह जो गतिशील संसार है, वह सब परब्रह्म की सत्ता से ही निकल कर प्राणवान होता है, (वह जगत्-कारण ब्रह्म) (प्रहार को) उद्यत वज्र के सदृश अति भयंकर है। जो लोग इस ब्रह्म को जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

**भाष्यम् – यदिदं किं च यत्किं च इदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन् ब्रह्मणि सति एजति कम्पते तत एव निःसृतं निर्गतं सत् प्रचलति नियमेन चेष्टते। यत् एवं जगत्-उपपत्ति-आदिकारणं ब्रह्म तत् महद्भयम्। महच्च तद्भयं च विभेति अस्मात् इति महद्भयम्; वज्रमुद्यतम् उद्यतम् इव वज्रम्।**

**भाष्य-अनुवाद** – इस संसार में जो कुछ भी है, वह उस परम ब्रह्म के होने से ही स्पन्दित होता है, उसी से प्रकट होकर नियमानुसार कार्य करता है। इस प्रकार चूँकि ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है, अत: वह महा भयंकर है। इसलिये महा भयंकर है, क्योंकि उससे सभी भयभीत होते हैं। वह उठाये हुए वज्र के समान है।

**यथा वज्र-उद्यतकरं स्वामिनम् अभिमुखीभूतं दृष्ट्वा**

**भृत्या नियमेन तत्-शासने वर्तन्ते तथा इदं चन्द्र-आदित्य-ग्रह-नक्षत्र-तारका-आदि लक्षणं जगत्-सेश्वरं नियमेन क्षणम् अपि अविश्रान्तं वर्तते इति उक्तं भवति । य एतद्विदुः स्व-आत्म-प्रवृत्ति-साक्षिभूतम् एकं ब्रह्म अमृता अमरणधर्माः ते भवन्ति ।। २/३/२ (१०३)**

तात्पर्य यह कि जैसे वज्र उठाये हुए स्वामी को सामने देखकर सेवकगण नियमपूर्वक उसके आदेशानुसार कार्य करते हैं, वैसे ही चन्द्र, सूर्य, ग्रहों, नक्षत्रों, तारों आदि से युक्त यह जगत् उस ईश्वर के होने से ही, नियमानुसार क्षण भर का भी विश्राम लिये बिना कार्यरत रहता है । जो लोग अपने मन की गतिविधियों के साक्षीरूप इस अद्वय ब्रह्म को जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं । **❖ (क्रमशः) ❖**

---

## विवेक-चूडामणि

**श्री शंकराचार्य**

**अन्तः स्वयं चापि बहिः स्वयं च**
**स्वयं पुरस्तात् स्वयमेव पश्चात् ।**
**स्वयं ह्यवाच्यां स्वयमप्युदीच्यां**
**तथोपरिष्टात्स्वयमप्यधस्तात् ।।३८९।।**

**अन्वय** – अन्तः स्वयं च, बहिः अपि स्वयं च, स्वयं पुरस्तात्, स्वयं एव पश्चात्, स्वयं हि अवाच्याम्, स्वयं अपि उदीच्यां तथा स्वयं अपि उपरिष्टात् अधस्तात् ।

**अर्थ** – आत्मा स्वयं ही अन्दर है, स्वयं बाहर है, स्वयं सामने है, स्वयं पीछे है, स्वयं दाहिने है, स्वयं बाएँ है, इसी प्रकार स्वयं ऊपर है और स्वयं ही नीचे भी है ।

**तरङ्गफेनभ्रमबुद्बुदादि सर्वं**
**स्वरूपेण जलं यथा तथा ।**
**चिदेव देहाद्यहमन्तमेतत्**
**सर्वं चिदेवैकरसं विशुद्धम् ।।३९०।।**

**अन्वय** – यथा तरंग-फेन-भ्रम-बुद्बुद्-आदि सर्वं स्वरूपेण जलम्, तथा देह-आदि-अहम्-अन्तं चित् एव, एतत् सर्वं एकरसं विशुद्धं चित् एव ।

**अर्थ** – जैसे तरंग, फेन, भँवर, बुलबुले आदि सभी स्वरूप से जल मात्र हैं, वैसे ही देह से लेकर अहंकार तक सब कुछ चैतन्य मात्र है । यह सब विशुद्ध एकरस चैतन्य ही है ।

**सदेवेदं सर्वं जगदवगतं वाङ्मनसयोः**
**सतोऽन्यन्नास्त्येव प्रकृतिपरसीम्नि स्थितवतः ।**
**पृथक् किं मृत्स्नायाः कलशघटकुम्भाद्यवगतं**
**वदत्येष भ्रान्तस्त्वमहमिति मायामदिरया ।।३९१।।**

**अन्वय** – वाङ्-मनसयोः अवगतं इदं सर्वं जगत् सत् एव, न अन्यत् प्रकृति-परसीम्नि स्थितवतः सतः एव अस्ति । कलश-घट-कुम्भ-आदि अवगतं मृत्स्नायाः किं पृथक्? एषः माया-मदिरया भ्रान्तः, 'त्वं', 'अहं' – इति वदति ।

**अर्थ** – वाणी (आदि इन्द्रियों) तथा मन द्वारा ज्ञात होनेवाला यह सारा जगत् सत्-स्वरूप ही है । प्रकृति की सीमा के परे स्थित सत्स्वरूप ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है । क्या कलश, घट, कुम्भ आदि मिट्टी से पृथक् हैं? तुम माया की मदिरा से भ्रान्त होकर ही 'मैं'-'तुम' आदि बोल रहे हो ।

**क्रियासमभिहारेण यत्र नान्यदिति श्रुतिः ।**
**ब्रवीति द्वैतराहित्यं मिथ्याध्यासनिवृत्तये ।।३९२।।**

**अन्वय** – श्रुतिः क्रिया-समभिहारेण 'यत्र न अन्यत्' इति ब्रवीति, मिथ्या-अध्यास-निवृत्तये द्वैत-राहित्यं ।

**अर्थ** – 'यत्र नान्यत्' वाक्य में क्रियापद के बारम्बार प्रयोग से श्रुति – मिथ्या अध्यास की निवृत्ति के लिये द्वैत का निषेध करती है । (सन्दर्भ – "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा – जहाँ अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता, अन्य कुछ नहीं जानता, वही भूमा – अनन्त ब्रह्म है ।" छान्दोग्य उपनिषद ७-२४-१)

**आकाशवन्निर्मलनिर्विकल्पं**
**निःसीमनिःस्पन्दननिर्विकारम् ।**
**अन्तर्बहिःशून्यमनन्यमद्वयं**
**स्वयं परं ब्रह्म किमस्ति बोध्यम् ।।३९३।।**

**अन्वय** – आकाशवत् निर्मल-निर्विकल्पं निःसीम निःस्पन्दन-निर्विकारं अन्तर्-बहिः-शून्यं अनन्यं अद्वयं परं ब्रह्म स्वयं, बोध्यं किं अस्ति ।

**अर्थ** – तू स्वयं ही आकाशवत् निर्मल, निर्विकल्प, निःसीम, निःस्पन्द, निर्विकार, अन्दर-बाहर से रहित, अनन्य, अद्वितीय परं ब्रह्म है, इसके सिवा तेरे लिये जानने योग्य है ही क्या?

**वक्तव्यं किमु विद्यतेऽत्र बहुधा ब्रह्मैव जीवः स्वयं**
**ब्रह्मैतज्जगदाततं नु सकलं ब्रह्माद्वितीयं श्रुतिः ।**
**ब्रह्मैवाहमिति प्रबुद्धमतयः संत्यक्तबाह्याः स्फुटं**
**ब्रह्मीभूय वसन्ति सन्ततचिदानन्दात्मनैतद्ध्रुवम् ।।३९४।।**

**अन्वय** – अत्र बहुधा किमु वक्तव्यं विद्यते? जीवः स्वयं ब्रह्म एव (अस्ति) । एतत् आततं सकलं जगत् नु ब्रह्म । श्रुतिः अद्वितीयं ब्रह्म (ब्रवीति) । 'अहं ब्रह्म एव' इति प्रबुद्ध-मतयः संत्यक्त-बाह्याः ब्रह्मीभूय सन्तत-चिदात्मना स्फुटं वसन्ति एतद् ध्रुवम् ।

**अर्थ** – इस (जीव-ब्रह्म-एकता) के विषय में अनेक प्रकार से क्या कहना? जीव स्वयं ही ब्रह्म है, यह सारा फैला हुआ जगत् ब्रह्म ही है, श्रुति (वेद) ब्रह्म को अद्वितीय कहती है । 'मैं ब्रह्म ही हूँ' – इस प्रकार ज्ञानप्राप्त बुद्धिवाले बाह्य विषयों को सर्वथा त्यागकर, निरन्तर चिदानन्द-स्वरूप होकर स्वयं को ब्रह्म से अभिन्न अनुभव करते हैं । यह ध्रुव सत्य है ।

**❖ (क्रमशः) ❖**
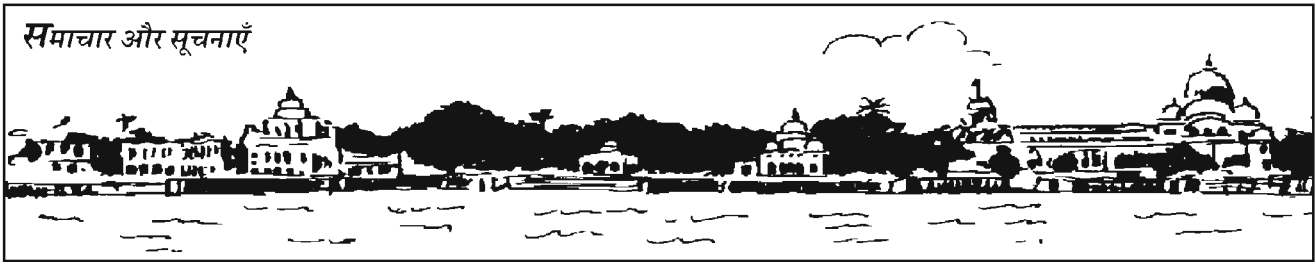
## राष्ट्रपति जी का नारायणपुर आश्रम परिदर्शन

भारत के राष्ट्रपति सम्माननीय श्री प्रणव मुखर्जी ने ७ नवम्बर, २०१२ को रामकृष्ण मिशन, नारायणपुर में पदार्पण किया और आश्रम में हो रहे कार्यों की प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि विवेकानन्द के सपनों को साकार करने का जो कार्य मिशन के संन्यासियों, शिक्षकों, चिकित्सकों और विद्यार्थियों द्वारा किया जा रहा है, वह प्रशंसनीय है। उन्होंने नारायणपुर में ५००-५०० छात्र-छात्राओं के निवास योग्य छात्रावास का शिलान्यास किया। राष्ट्रपति जी ने रायपुर में ६ नवम्बर को राज्योत्सव का उद्घाटन किया तथा वहाँ राजभवन में चन्दन का वृक्ष भी लगाया।

## विवेकानन्द वायुपत्तन के नये टर्मिनल का उद्घाटन

भारत के राष्ट्रपति श्री प्रणव मुखर्जी ने छत्तीसगढ़ की राजधानी रायपुर में ७ नवम्बर, २०१२ को विवेकानन्द हवाई अड्डे के नये टर्मिनल का श्रीगणेष किया। कार्यक्रम में राज्य के मुख्यमंत्री डॉ. रमन सिंह, राज्यपाल श्री शेखरदत्त और बहुत-से मंत्री, अधिकारी आदि उपस्थित थे।

## युवा-सम्मेलन सम्पन्न हुआ

पं. रविशंकर विश्वविद्यालय की राष्ट्रीय सेवा योजना, रायपुर और स्वामी विवेकानन्द विचार मंच, रायपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में स्वामीजी की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में एक युवा-शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय संयोजक श्री रवि कुमार जी ने 'वैश्विक परिदृश्य में उभरता भारत' पर प्रभावकारी व्याख्यान दिया। रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्दजी और रविशंकर विश्वविद्यालय के कुलपति श्री एस.के. पाण्डेय ने भारत एवं भारतीयों के गौरवमय विकास एवं उनकी महान् शक्ति पर व्याख्यान दिये। प्रेक्षागृह छात्र-छात्राओं से पूर्ण था।

## युवा-जागृति शिविर आयोजित हुआ

अम्बिकापुर के श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द सेवाश्रम और वहीं के सरगुजा विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्त्वावधान में २५ नवम्बर, २०१२ को श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम के बड़े सभागार में एक युवा-जागृति शिविर का आयोजन किया गया। जिसमें विद्यालयों, महाविद्यालयों के २५० छात्र-छात्राओं ने उत्साह के साथ भाग लिया। शिविरार्थियों ने बड़े व्यावहारिक प्रश्न भी पूछे। शिविर में अम्बिकापुर आश्रम के सचिव स्वामी तन्मयानन्द जी, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी और सरगुजा विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. सुनील कुमार जी वर्मा ने अपने विचारों से युवकों को अवगत कराया।

## छत्तीसगढ़-मध्यप्रदेश भावधारा संवाद

स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य निम्निलिखित कार्यक्रम आयोजित किये गये –

## भिलाई (छत्तीसगढ़) में सभायें हुयीं

२९ अक्टूबर, २०१२ से २०-१०-२०१२ तक २० विद्यालयों-महाविद्यालयों में व्याख्यान हुये। इसे भिलाई की संघमित्रा ताकदार ने अपनी २२ स्वयंसेविकाओं के सहयोग से आयोजित किया था। इसमें कुल २० वक्ताओं ने स्वामीजी के विचारों से छात्र-छात्राओं को अवगत कराया। कुल ३५१४ लोगों ने भाग लिया। सभी जगह विवेकानन्द-साहित्य विक्रय-केन्द्र भी लगया गया था। यह सूचना हमें छ.ग.-म.प्र. भावधारा के संयोजक श्री हिमाचल मढ़रिया जी ने दी है।

## मध्यप्रदेश में युवा शिविर

८ जनवरी - जबलपुर, १० जनवरी- सागर, १३ जनवरी - उज्जैन, १७ जनवरी - निमुच, १८ जनवरी - मन्दसर, २२ जनवरी - खंडवा और ९ जनवरी - दमोह में शिविर आयोजित किये गये। यह सूचना हमें छ.ग.-म.प्र. भावधारा के संयोजक श्री हिमाचल मढ़रिया जी ने दी है।

## शिक्षक-कार्यशाला का आयोजन

रामकृष्ण-विवेकानन्द विद्यापीठ, बिजूरी, मध्यप्रदेश में ३ जनवरी, २०१३ को माँ सारदा जयन्ती और ४ जनवरी को एक शिक्षक सेमीनार का आयोजन किया गया, जिसमें स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने 'माँ सारदा' और 'शिक्षकों के कर्तव्य' पर व्याख्यान दिया।

## रामकृष्ण मठ, कड़प्पा

में नये श्रीरामकृष्ण मन्दिर का उद्घाटन २२ नवम्बर, २०१२ को स्वामी गौतमानन्द जी महाराज ने किया।

❑ ❑ ❑